

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का



ISSN 2350-1065 MUKTANCHAL

वर्ष: 3, अंक: 10, अक्टूबर-दिसम्बर 2016

मुक्ताचल

मूल्य : 50 रुपये



विद्यार्थी मंच

उस पार से...

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल'
(०९ नवंबर १९३६ - १० फरवरी १९७५)



मैं बार-बार कहता हूँ कि इस उलझी हुई
दुनिया में
आसानी से समझ में आने वाली चीज
सिर्फ दीवार है।
और यह दीवार अब तुम्हारी आदत का
हिस्सा बन गयी है
इसे झटककर अलग करो
अपनी आदतों में
फूलों की जगह पत्थर भरो
मासूमियत के हर तकाजे को
टोकर मार दो
अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार दो।
'सुनो!
आज मैं तुम्हें वह सत्य बतलाता हूँ
जिसके आगे हर सचाई
छोटी है। इस दुनिया में
भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क
रोटो है।
मगर तुम्हारी भूख और भाषा में
यदि सही दूरी नहीं है
तो तुम अपने आपको आदमी मत कहो
क्योंकि पशुता-
सिर्फ पूँछ होने की मजबूरी नहीं है
वह आदमी को भी वहीं ले जाता है

जहाँ भूख
सबसे पहले भाषा को खाती है
वक्त सिर्फ उसका चेहरा बिगाड़ता है
जो अपने चेहरे की राख
दूसरों की रूमाल से झाड़ता है
जो अपना हाथ
मैला होने से डरता है
वह एक नहीं ग्यारह कायरों की
मौत मरता है
और सुनो! नफरत और रोशनी
सिर्फ उसके हिस्से की चीज है
जिसे जंगल के हाशिये पर
जीने का तमीज है
इसलिए उठो और अपने गीतर
सोये हुए जंगल को
आवाज दो
उसे जगाओ और देखो-
कि तुम अकेले नहीं हो
और न किसी के मुहताज हो
लाखों हैं जो तुम्हारे इंतजार में खड़े हैं
वहाँ चलो। उनका साथ दो
और इस तिलस्म का जादू उतारने में
उनकी मदद करो और साबित करो
कि वे सारी चीजें अंधी हो गयी हैं
जिनमें तुम शरीक नहीं हो...'

-पटकथा

शोध, समीक्षण, सृजन एवं संचार का

मुक्तांचल

त्रैमासिक

वर्ष-3, अंक- 10, अक्तूबर-दिसम्बर 2016

संपादक : डॉ. मीरा सिन्हा
सह-संपादक : डॉ. अर्चना पाण्डेय
प्रकाशक : आनंद कुमार सिन्हा
प्रबंध संपादक : आनंद प्रसाद नोनिया
कला संपादक : शुभागता श्रीवास्तव
आकल्पक : सोनू प्रजापति
संपादन : अवैतनिक

व्यवस्थापन :

सुलेखा कुमारी, प्रियंका सिंह, जीवन सिंह

विशेष सहयोग :

डॉ. इतु सिंह : खिदिरपुर कॉलेज, कोलकाता
डॉ. मनीषा झा : उत्तर बंग विश्वविद्यालय, दार्जिलिंग
डॉ. पुनीत कुमार राय: शा. महाविद्यालय, शंकरगढ़, छत्तीसगढ़
राजीव रंजन : अरुणाचल विश्वविद्यालय, अरुणाचल

मुक्तांचल A/c- 50200014076551
HDFC BANK, BURRABAZAR,
KOLKATA- 700007
IFSC CODE- HDFC0000219

पत्रिका में व्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं
'मुक्तांचल' से संबंधित सारे विवादों के लिए न्याय-क्षेत्र
कलकत्ता उच्च न्यायालय होगा।

संपादकीय कार्यालय :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी लेन
सलकिया, हावड़ा-711 106, पश्चिम बंगाल
संपर्क - 0332675 7195/1686
ई-मेल - muktanchalquarterly2014@gmail.com

संपर्क :

संपादक : 098314 97320,
Email : sinhameera48@gmail.com
सह- संपादक : 098308 39032
Email : pandeyarchanaphd@gmail.com
प्रबंध संपादक : 09748322234
Email : anand87prasad@gmail.com

मुद्रक : शिक्षण, 50, सीताराम घोष स्ट्रीट,
कोलकाता-700 009

मूल्य

एक अंक- ₹ 50/-

सदस्यता शुल्क

वार्षिक- ₹ 200/-, आजीवन- ₹ 2000/-

संस्थाओं के लिए

वार्षिक- ₹ 250/-, आजीवन- ₹ 2500/-

डाकखर्च (प्रत्येक अंक के लिए) अतिरिक्त ₹ 30 देय होगा।

‘केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से सहयोग प्राप्त’

अवस्थिति

शोध	संस्तुति	
	आलेख	
समीक्षण	07 डॉ. अरुण कुमार :	आत्मकथा: तथ्य और सत्य
	11 विनोद साव :	कहानी की तरलता और कथाकार की संवेदनाओं से युक्त यायावरी की दास्तान
	26 शशिभूषण द्विवेदी :	प्रो. नित्यानंद तिवारी यानि जीनियस की मौलिकता का वितान और हिंदी संसार
	32 शशि कुमार शर्मा :	धूमिल की समकालीन काव्य-दृष्टि
	अनुशीलन	
	36 तरसेम गुजराल:	घड़ी से 'समय' देखने की कला
सृजन	42 डॉ. शशि शर्मा :	अपने वजूद के लिए संघर्षरत स्त्रियाँ और समकालीन कविता
	46 डॉ. वर्षा गायकवाड :	मैथिलीशरण गुप्त के पत्र
	49 डॉ. नामदेव जासूद :	अज्ञेय की इतिहास दृष्टि
	विमर्श	
	52 डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित :	हिंदी साहित्य का आदिकाल (वीरगाथाकाल): कुछ उलझनें
	गवेषणा	
संचार	69 अतुला भास्कर:	आदिकालीन साहित्य की संवेदनाओं की आधुनिक प्रासंगिकता
	74 विनोद कुमार सिंह :	गांधीयुगीन हिंदी दैनिकों के जातीय स्वर
	कविता	
	80 सुबंश ठाकुर 'अकेला' :	खड़ा करो हंगामा, युद्ध अभी चलता रहेगा, रख देता हूँ मोबाइल, एक आम कई आम
	83 सविता मिश्र:	पतंग के बहाने से, उम्मीद, बैशाख का मन, खिड़की, रेशम
	85 मीरा श्रीवास्तव :	अपना घर, विश्वास और उन्माद

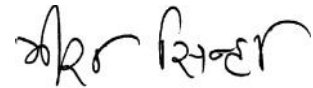
शोध	86 अशोक सिंह :	अकेली औरत, टूटा हुआ आदमी, छोटे लोग, कविता कोई जादुई मंत्र नहीं है, एक खुला पत्र: तमाम राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम
	90 डॉ. शुभा उपाध्याय :	एक दिन..., समानांतर चलती एक लड़की
	92 डॉ. कृपा शंकर शर्मा 'अचूक' :	चार गीत
समीक्षण	सरगम के सुर साधे	
	94 गोविंद मिश्र :—	बूढ़ा देवदार, साहित्य का श्रोता, देवदार वन, वसंत कहाँ, पैसे वाली सैलानी
	कहानी	
	96 सिद्धेश :	शांतिलाल की हवाखोरी
	100 डॉ. राणा प्रताप :	तुम वहीं का वहीं रह गया
सृजन	पिछले पन्ने से	
	104 आनंद सिन्हा :	तपन जिंदा है
	भाषान्तर	
	108 विपिन चौधरी :	मैंने तुम्हें देखा नहीं (मराठी कविता) मूल: गोविंद विनायक करंदीकर
	पुस्तकायन	
संचार	109 रमेश कुंतल मेघ:	अनुवीक्षा (रिव्यू) से अनुचिंतन के उत्तर पाठ
	112 डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी :	'फिर भी कुछ रह जायेगा'— विलोप के इस मारक समय में भी
	गतिविधियाँ	
	118 साहित्यिक गतिविधियाँ	

संस्तुति

मुक्तांचल (अक्तूबर-दिसम्बर २०१६) का यह अंक तीन वर्षों की यात्रा पूरी कर रहा है। अगला अंक (जनवरी-मार्च २०१७) नए वर्ष की अगुआई करेगा। पिछले वर्ष के तीन अंकों में क्रमशः स्त्री लेखन पर विशेष, उपन्यास पर विशेष एवं आधुनिक हिंदी कविता पर विशेष अध्ययन केन्द्रित रहा है। जुलाई-सितम्बर २०१६ के कविता केन्द्रित अंक में मैंने समीक्षण के दायरे में 'प्रलेखन' या 'प्रतिलेखन' की शुरुआत आनंद गौतम जी के प्रलेख से किया था और इसे एक स्तंभ के रूप में क्रियान्वित करने की घोषणा भी की थी परंतु वर्तमान अंक में ऐसी कोई सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी। अतः इस अंक में ऐसा कोई प्रलेख नहीं जा पा रहा है। सर्जनात्मक पक्ष में इस बार 'पिछले पन्ने से' कहानी के एक नए स्तंभ की शुरुआत आनंद सिन्हा की कहानी 'तपन जिंदा है' (१९७६) से की जा रही है। इस स्तंभ में कहानी का अप्रकाशित होना आवश्यक नहीं है; विगत दिनों की कोई भी प्रकाशित या अप्रकाशित, चर्चित या अचर्चित कहानी भी इस स्तंभ में शामिल की जा सकती है, लेखन वर्ष का उल्लेख आवश्यक होगा।

प्रत्येक बार की तुलना में इस बार मैं अधिक सटीक कदम उठाना चाहती हूँ अतः रचना सहयोगियों से मेरा अनुरोध है कि वे 'मुक्तांचल' के स्वरूप को संवारने में मेरी मदद करें। इस वर्ष (२०१७) में एक अंक कलकत्ते के साहित्य संसार को विविध कोणों से उद्घाटित करेगा, 'परमार्फिंग आर्ट' तथा नाट्यालोचन पर एक विशेष अंक की योजना है, हिंदी आलोचना दशा और दिशा पर भी एक अंक संयोजित किया जायेगा। उपर्युक्त तीन अंक विषय केन्द्रित होंगे, किसी एक अंक में विविध सामग्रियों को समावेशित किया जायेगा। पत्रिका के सर्जनात्मक स्तंभ प्रत्येक बार यथावत रहेंगे।

कविता पर विशेष अंक की कुछ विशेष प्रतिक्रिया नहीं मिल पायी और इसके लिए कहीं-न-कहीं गुनाहगार हम हैं, इस बात के लिए कि समय से मुक्तांचल (०९) का वितरण नहीं हो पाया। दरअसल, हुआ यूँ कि कई अपरिहार्य कारणों से पिछला अंक सितंबर के अंत तक हाथ में आया, वितरण की प्रक्रिया स्थानीय स्तर पर शुरू भी हुई परंतु कलकत्ते में सितम्बर से ही त्यौहारों का ज्वार 'सूनामी' की शक्ल अख्तियार कर लेता है और लोग अवकाश पाने की आवेग में डूबने-उतराने लगते हैं। बाजार हलचल से भर जाता है, साहित्य के प्रकाशन में भी अफरा-तफरी दिखायी देती है; कई-कई प्रतिष्ठानों से बेहद सजीले विशेषांक निकल रहे होते हैं, मुद्रक भी व्यस्त, उसके सहयोगी भी व्यस्त। खैर, सारे जद्दोजहद के बावजूद पत्रिका तो हाथ आ गयी पर वे सारे के सारे लोग कहीं-न-कहीं व्यस्त हो गये या बीमार पड़ गये जिनका अवदान वितरण को सुचारू करता है। जैसे-तैसे पूजा गयी तो दीपावली आ खड़ी हुई। छुट्टियों का महीना खत्म हुआ तो नवंबर में डाक व्यवस्था शुरू ही हुई थी कि अचानक पूरा का पूरा देश कतारों की कवायद से बंध गया और आज तक वही एक स्थिति जारी है। डाक व्यवस्था चरमरा गयी, सारे के सारे अंक धरे के धरे रह गये और उन्हें प्रेषित करना संभव नहीं हो पाया। अस्तु, इस नये अंक के साथ हम पिछला अंक भी प्रेषित कर रहे हैं- उम्मीद है प्रत्येक पत्रिका-प्राप्तकर्ता-पाठक हमें अपनी प्रतिक्रिया एवं सुझाव से लाभांवित करेगा।



संपादक

आत्मकथा : तथ्य और अत्य

अरुण कुमार

अनुभव के वैशिष्ट्य का महत्त्व है। इसमें भोगने, समझने, परखने और दृष्टिगत करने की सभी क्रियाएँ शामिल हैं। कुछ लिख दिया और वह पक्का हो गया, ऐसा नहीं होता है। हर भोक्ता को केवल एक रूपांतरकार चाहिए जो उसके अनुभव को लिपिबद्ध कर सके। आत्मकथाओं का महत्त्व इससे तथ्य होता है कि वह कितना व्यक्तिगत और कितना सामाजिक है। व्यक्तिगत अनुभवों में उत्तेजना या कहें आवेग ज्यादा होता है, इसलिए आत्मकथाकार अपने जीवन का कुछ भी नहीं छोड़ना चाहता है। उसे उसका अपना जीवन ही महत्वपूर्ण लगने लगता है। फिर पाठकों से उसकी उम्मीद होती है, वह उसे उसी संदर्भ में समझे। यह गैर लोकतांत्रिक प्रक्रिया है। इस कारण दलित लेखकों का साहित्य एक जैसा लगने लगता है। तमिल की प्रसिद्ध दलित लेखिका बामा की आत्मकथा 'कुरुक्कु' (ताड़ के वृक्ष के पत्तों के डंठल की दोनों तरफ मौजूद छोटे-छोटे काले रंग का कँटीला आरी की तरह धारयुक्त स्थल) में दो परस्पर लेकिन सामानांतर दुनिया का बारीक चित्रण है। एक दुनिया है जब बामा ईसाई बनी थी और दूसरी दुनिया है जब वह वहां से बाहर निकली थी। एक तीसरी दुनिया है उसके दादा-दादी की दुनिया। इनमें परस्पर समानता है। शोषण हर जगह है। बामा उसकी बारीकी को उभारती हैं। तमिलनाडु में परेय दलित जाति है। बामा उसी जाति से आती हैं। नायक्कर ऊँची जाति मानी जाती है। एक वृद्ध कागज की पोटली को हाथ से पकड़ने के बजाए उस पर बँधे धागे मात्र को पकड़ा हुआ था। वह सीधे नायक्कर के पास पहुँचा। उसे झुककर प्रणाम किया और कागज की उस पोटली को उसकी तरफ बढ़ाया। नायक्कर ने अपना हाथ बढ़ाया और उस वृद्ध ने पोटली को ऊपर करके उसके हाथों को छुये बिना नायक्कर के हाथों में डाल दिया। नायक्कर उसे खोलकर खाने लगा। बामा की दादी और नानी दोनों नायक्कर के खेतों में काम करते थे। नायक्कर के छोटे बच्चे भी अहंकारवश दादी और नानी को हुक्म देते थे। बामा की दादी उन बच्चों को मालिक कहती थीं। बामा की दादी को नायक्कर परिवार की बहू चार गज की दूरी से पानी पिलाती थी। उसमें यह धार कमजोर पड़ी है। फिर इसके साथ लोकतंत्र, मनुष्य की आजादी, इन सबको लेकर आंदोलन होने लगे। दलित साहित्य और लेखन का एक सकारात्मक रूप समाज के पुनर्गठन को लेकर जरूर आया। ओमप्रकाश वाल्मीकि के काव्य संकलन 'बस्स, बहुत हो चुका' की एक कविता में चिड़िया, दलित और स्त्री की उदासी का एक रूप आया है, भव्य अट्टालिकाओं में/ खिड़की दरवाजों में कील की तरह/ दुकी चिड़िया। निराला की 'तोड़ती पत्थर' कविता का एक बिंब कुछ यों है, सामने अट्टालिका और नीचे पत्थर तोड़ रही युवती। ओमप्रकाश नेपथ्य से कहते हैं कि यह दूरी जब तक रहेगी, चिड़िया उदास रहेगी, खेत उदास रहेंगे, लड़की उदास रहेगी। वाल्मीकि खेत और लड़की की उदासी का कारण कहीं

खोज रहे हैं। खेतों पर 'अट्टालिका खड़ी है गुरु हथौड़ा हाथ, / करती बार-बार प्रहार/ सामने तरु-मालिका अट्टालिका प्रकार।' (निराला) अट्टालिका आकार ले रही है और पत्थर तोड़ रही स्त्री बिल्कुल निमग्न होकर अपने श्रम में लगी है। सत्तर के बाद खेत उजड़ते गये और अस्सी के बाद सुनियोजित आर्थिक ढाँचा चरमराने लगा। एक स्लोगन उछला स्लोगन के बतौर कुछ बातें आयीं। राज्य सत्ता कितना काम करेगी। खुद मेहनत करके कुछ उपार्जन करना होगा। बड़ा कठिन समय है यह। अस्सी के दशक में आर्थिक मंदी लाने वाले नायकों की चिंता समाजवादी विचारधारा को रोकना था। आजादी के पहले आयी आर्थिक मंदी से निपटने में एक संगठित राजनैतिक आंदोलन सामने खड़ा था। अस्सी और नब्बे के दशक राज्य की शक्ति को कुछ हाथों देकर पूँजीवाद को जिंदा रखना जरूरी समझा गया। जो उत्पादन की वृद्धि को लेकर था। बाजार से ज्यादा-से-ज्यादा उगाही करने को लेकर था। जब सरकार आयी, सबके सुर एक से होने लगे, रास्ता कठिन है, संघर्ष करना होगा और संघर्ष करेगा आम आदमी जो उत्पादन-वृद्धि को देखता है लेकिन उसका उपभोग करने से वंचित रह जाता है। हीरा डोम की कविता 'अछूत' की शिकायत छपी थी सितम्बर, १९१४ में, इस कविता में बे-धरम हो जाने की चिंता व्यक्त की गयी है। अछूत अपनी बोली में यही और इतना भर ही समझता है कि कचहरी में पादरियों की दखल है। उस समय ईसाई धर्म साम्राज्यवाद के प्रसार का माध्यम था। हीरा डोम का तात्कालिक अनुभव है अपने ईसाई धर्म के लुट जाने को लेकर। एक बार हीरा डोम के धर्मांतरण हो जाने पर उसके खेत पर किसी और का कब्जा होगा। सामंत और ब्रिटिश राज दोनों चलेंगे साथ-साथ। हीरा डोम कहता है कि वह साहु की तरह डंडी नहीं मार सकता। अहीर की तरह गाय नहीं चरा सकता। उस समय का सामंतवाद इसकी इजाजत नहीं देता है। डोम डोम ही रहेगा। सामंत और अंग्रेजी राज मिले हुए हैं, इसलिए अछूत अछूत ही बना रहेगा। वर्ण व्यवस्था का यथार्थ यहाँ है। भला साहुकार सामंत से क्यों लड़े या यादव जमींदार से क्यों लड़े? लड़ने का माद्दा है तो हीरा डोम में, क्योंकि उसे अपनी मेहनत पर गर्व है। ध्यान रहे

कि हिंदू महासभा की उत्तर प्रदेश इकाई में व्यापारी अधिक थे जिनमें मध्यवर्ती जातियों के नेता ही थे। दलित राजनीति इस गठजोड़ को समझे बगैर आगे बढ़ेगी तो ब्रिटेन या अमेरिका की ही ढाल बनेगी। जैसे, आज दलित सोच का एक हिस्सा सांप्रदायिक शक्तियों के साथ है। हीरा डोम की इस कविता में केवल अनुभव होता तो साहुकार की डंडी का सच सामने नहीं आया होता। सोचें, महज अनुभव के वैशिष्ट्य से नयी कविता के कवियों को फायदा हुआ या नुकसान? उनकी पहचान बुलंद हुई या ध्वस्त हुई? अनुभव का महत्त्व उसकी निर्वैयक्तिकता में है। तभी तो कुछ आलोचकों को मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' सामाजिक वृत्त जैसा लगा। उनकी दृष्टि में ऐसा होना आत्मकथा की सीमा है। परंतु अगर यही और ऐसा ही है तो रूसी कथाकार एंटन चेखव की डायरी ही कहानी होती। नैमिशराय की आत्मकथा में विश्वासों को तोड़ते हुए या उन पर हमला करते हुए एक ऐसा मोड़ आया है जो सामंतवाद के खिलाफ किलाबन्दी कर रहा है मानो मंदिर है तो बलात्कार होगा ही। एक दृश्य की बिखरी ईंटे हैं, एक ओर तो भूख से थाली कटोरे बजाते भिखमंगे दूसरी ओर लाज बचाती महिलाएँ। आत्म कथाकार का अनुभव है कि कौन ऐसा मंदिर बना होगा जिसमें किसी महिला की साड़ी न उतारी गयी होगी। इनमें ज्यादातर दलित महिलाएँ ही होती हैं। चमार जाति की महिला को जबरन उठा लेने को तैयार काश्तकार (जाट) के शब्द हैं, 'तुम्हारी खाल में भुस न भर दिया तो मेरा नाम जागीर सिंह नहीं।' गाँव के एक छोर पर चमारों की बस्ती थी। जब इच्छा होती थी, बस्ती से लड़कियाँ उठा ली जाती थीं। मंदिरों में उन्हें पनाह मिलती थी। गाँव के मंदिर चमारों के लिए नहीं थे। सामंत अपने आराम के लिए देवता पैदा करते थे। मंदिर, लड़की और सामंत ये तीन अंग हैं गाँव की व्यवस्था के। नैमिशराय ने लिखा है कि गाँव की लड़कियों के नाम जाति और रंगों-आब के हिसाब से होते थे। सुंदर लड़कियाँ छमिया, झुनिया कहलाती थीं। गंगा, सावित्री, चम्पा बड़े घर की बेटियों के नाम होते थे। जातियों के अलग-अलग टोले अब भी हैं, चमार टोली, दुःसाध टोली। गाँव की ऐसी भौगोलिक संरचना जमींदारों के आतंक

के कारण रही है। जो केवल अपने अनुभवों की दास्तान कहेंगे, उन्हें राहुल सांकृत्यायन को भूल जाना होगा। नागार्जुन को भूल जाना होगा। ऐसे में आत्मकथा कभी मध्यवर्ती जातियों में अपना भविष्य देखेगी तो कभी ऊँची जातियों में और बिना जमीन, मालगुजारी और किसानों के दोहन को देखे बगैर ताल-मेल और समझौते का रास्ता इस्तिथार करेगी। बिल्कुल सही अनुभव है मोहनदास का कि चमारों को ईद-बकरीद के मौके पर गाय, भैंस, बकरी के फेंके जाने वाले भाग का इंतजार होता था। मुसलमानों के दरवाजे पर घंटो खड़े रहने के बाद उन्हें छँटनी किया हुआ मांस मिलता था। इसी आत्मकथा में दलित जातियों का अंतर्विरोध भी सामने आया है, बिल्कुल कच्चे अनुभव के रूप में। मुस्लिम समुदाय की पिछड़ी जातियों के लोग बात-बात में मोहनदास को चमड़ा कहते थे।

कई लोग मोहनदास की आत्मकथा को 'आत्मवृत्त' कहते हैं, अपने अनुभव का वृत्तांत। वृत्तांत में अनुभव सामाजिक जिम्मेदारी लिए पाठकों के सम्मुख आता है। तभी तो 'यात्रा वृत्तांत' शब्द प्रचलित हुआ। केवल अनुभव के वैशिष्ट्य के रेखांकित होने पर व्यक्तिवादिता को बढ़ावा मिलता है। अगर केवल 'चमड़ा' और 'चमड़ी' (चमार महिलाओं के लिए) का संदर्भ रेखांकित होते, तो गाँव की सामंती व्यवस्था सामने नहीं आती। केवल अनुभव की तथाकथित ईमानदार अभिव्यक्ति से जातिगत समीकरण बनाने में सहूलियत होती है। अब दलित नेताओं से सवाल किया जाये कि वे गोलवरकर की विचारधारा पर क्यों चुप्पी साध लेते हैं, बल्कि वे उनकी पार्टी के साथ जाने को तैयार हो जाते हैं। यह साम्राज्यवाद का विरोध है या समर्थन? अम्बेडकर और गाँधी दोनों साम्राज्यवाद से लड़ रहे थे। परंतु आप क्या कर रहे हैं? याद करें अपनी पत्रिका मूक नायक (१९२०) में अम्बेडकर महाड़ जाति (बम्बई के मूल निवासी) के शोषण और उसके कारण पर लिख रहे थे। अम्बेडकर जी के समय में यह चर्चा थी कि मजदूर अछूत से अधिक सुविधाओं में जीता है। दलित राजनीति पहले मुद्दे (साम्राज्यवाद का विरोध) पर मौन हो जाती है और दूसरे मुद्दे से हाथ मिला लेती है। किसान

काफी जद्दोजहद के बाद अपने विश्वास को तिलांजलि देता है। उसका विश्वास जमींदार को भगवान मानने का होता है। मजदूर कारखाने के अंदर जाने से लेकर आने तक अपने मालिक को भगवान नहीं मानता है। संगठित-हमला जरूरी है। किसान और मजदूर का संगठित होना जरूरी है। मलयालम के बहुत लोकप्रिय और दलित कवि अच्युतन की कविता है 'हाथी का मर्म'। अनुवाद भी स्वयं अच्युतन ने किया है। यह कविता नयी सदी की शुरुआत में छपी थी। कविता के रचने का एक सच इसका अंतर्विरोध भी है। छोटे में भी कविता कहानी का प्लाट लिए सामने आती है। एक छोटी-सी नन्हीं चींटी एक हाथी को मार देती है। हमेशा कुचल-कुचलकर हारने वाली/ मरने वाली, दलित पीड़ित/ छोटी-सी नन्हीं-सी चींटी ने/ आज पहली बार हाथी को मारा। हाथियों की शोक सभा हुई। बहुत सोच समझने के बाद चाणक्य हाथी ने सुझाया कि चींटियों में कुछ लाल हैं, कुछ काले हैं, कुछ गोरे हैं। चींटियों की सभा हुई। उनका निर्णय हुआ, हम काले, गोरे, पीले, लाल हैं/ मगर चींटी हैं/ चींटी का संस्कार एक है। यह तय हुआ कि भूमि पुत्रों को उसका अधिकार मिलना चाहिए जो उसकी एकता से ही संभव है। कविता चींटियों के इस निर्णय पर आकर खत्म होती है क्योंकि हम जानते हैं/ संघर्ष आजादी का संस्कार है। कविता का शीर्षक हाथी के मन का भेद बताने को बेचैन है। भेद है काले और गोरे की पहचान कर अलग-अलग कर देना। चींटियों को भी यह भेद मालूम है कि काले और गोरे के भेद को तीखा और धारदार बनाने के लिए देवी-देवताओं की आराधना जरूरी है। इसलिए चींटी अपनी सहेलियों से कहती है, "हाथी चुप बैठेंगे नहीं, शायद/ देवी-देवताओं के जुलूस निकालेंगे/ बलि हमें खुद चढ़ाना होगा/ सावधान रहना है। चींटी को मालूम है कि बड़ी-बड़ी पूँजी के इस कारोबार में धर्म की भी जरूरत होती है। धर्म कोई निरपेक्ष सत्ता नहीं है। चींटी को यह भी पता है कि देवी-देवता कारोबारियों का ही साथ देंगे। ध्यातव्य है कि बच्चे जिस चींटी रानी का गीत गाया करते थे, वह हाथी जैसे राजा को तबाह करने का तरीका जानती है। यह अभारी स्त्री नहीं है। जितना शोषित दलित है, उतनी ही स्त्री भी। यह चींटी खुद को भूमि पुत्र कहती

है। बड़े-बड़े हाथी भूमि-पुत्रों को निकालकर ही राजा बने हैं। अच्युतन जैसे कवि की विचारधारा से ही हाथियों का साम्राज्य ध्वस्त होगा। गोरे और काले का भेद करने वाले की वर्ग संरचना बिल्कुल स्पष्ट है। इसके साथ वह कभी काले को भी गले लगा लेगा और कभी गोरे को। उस पर हमला तभी कारगर हो पाएगा जब चींटी रानी अपनी बिरादरी की सीमाओं का अतिक्रमण करेगी। बराक हुसैन ओबामा अश्वेत होने पर भी सीरिया और ईरान को ध्वस्त करने के लिए बेचैन हैं। उनका मतलब अश्वेतों से उतना नहीं है जितना पेट्रोल के कुओं को हथियाने से है। अच्युतन की कविता पूँजी के हाथियों का खेल समझती है। कई बार ये हाथी अश्वेत को भी हाथी बनाकर पेश करते हैं। चाय वाला खुद को हाथी बनने के ख्वाब को पूरा करने में लगा है। किसान का बेटा हाथी बनने की ताक में है।

विचार होना चाहिए कि श्रम के मूल्य का निर्धारण करने वाली सरकार में दलित का कितना हिस्सा है। मालिक उससे मनमाना मूल्य पर श्रम खरीदता है और उत्पाद में उसका वही हिस्सा होता है जो मालिक तय करता है। उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ मुनाफे का मूल्य भी संचित होता रहता है। व्यवस्था की चालाकी है कि वह उत्पादन वृद्धि को सीधे विकास से जोड़ देती है। (आदम स्मिथ वेल्थ ऑफ नेशंस) की चर्चा मुक्त बाजार को लेकर होती है लेकिन इस कारण नहीं होती कि कैसे निजी मिल्कियत श्रम को हड़प कर अपनी पूँजी दस गुना कर लेती है। आदम स्मिथ इस वास्तविकता को पूरी प्रमुखता के साथ रेखांकित करते हैं। इसलिए दलित की स्थिति बेहतर कभी नहीं हो पाती है। कई बार दलित इस सत्य को दरकिनार कर एक दूसरे सत्य की ओर छलांग लगा देती है। अश्वेत अश्वेत ही रहेंगे, इस सच को ताकत देने में दलितों की एकजुटता प्रयासरत रहती है। चंद्रभान प्रसाद ऐसे ही दलित लेखक हैं। उनकी तरह के और भी लेखक हैं। यह चंद्रभान जी का सोचना है कि वामपंथी नेता और केरल के मुख्यमंत्री बहुत प्रगतिशील, ईमानदार और चरित्रवान होने पर भी ब्राह्मण ही हैं। उनके शब्द बिल्कुल नई सदी के आरंभ (२००३) में खूब उछले थे पर वे जन्म से ब्राह्मण थे,

अचेतन ही सही वे ब्राह्मणत्व से विलग नहीं हो सकते थे। किस बात पर चंद्रभान जी उबल पड़े या उनको नम्बूदरीपाद में ब्राह्मणत्व झलकने लगा। बहुत पहले (१९७९) नम्बूदरीपाद का एक लेख 'कास्ट एंड क्लास' 'ई.पी. डब्ल्यू' में छपा था। नम्बूदरी पाद जी का मानना था कि वर्ण समाज की स्थापना से भारतीय समाज विज्ञान, कला और साहित्य में बहुत तरक्की किया है। चंद्रभान जी ने लिखा है 'वसुधा' भोपाल कि इ.एम.एस के लिए वर्ण आधारित सामाजिक संगठन से उत्पन्न भयावह स्थिति का अंदाजा लगाना मुश्किल था, क्योंकि वे ब्राह्मण थे। नम्बूदरीपाद वर्ण को सामाजिक और आर्थिक विकास का एक सोपान मानते हैं और ऐसा है भी। आवश्यकतानुसार उत्पादन और उसकी खपत समाज आगे नहीं बढ़ा था। ज़मीन पर किसी की मिल्कियत नहीं थी। मुद्रा का चलन नहीं था। अनाज ही लेन-देन का माध्यम था। वर्ण व्यवस्था के आने से मुद्रा का चलन हुआ, बड़ा बाजार बना कृषि और उद्योग का विकास हुआ। लोकतंत्र के आने से वर्ण व्यवस्था को कमजोर होना ही था। इ.एम.एस. जमींदारी प्रथा के खिलाफ लड़े। वर्ण व्यवस्था उसकी रीढ़ थी। वे स्वयं भी बहुत बड़े जमींदार परिवार से आते थे। वे सामंतवाद के खिलाफ लड़े। चंद्रभान की बात ही माने तो ब्राह्मण से 'डीकास्ट' हुए। एक सिस्टम को हटाने के लिए लड़े। अपने वर्ग के खिलाफ लड़े। ऐसा नहीं होने पर सिस्टम का बदलना असंभव है। संघर्ष के तेज होने पर जातिगत सीमाएँ टूटती हैं लेकिन कब जब वह अपने वर्ग की सीमाओं को ध्वस्त करता है। वर्ण का विरोध बिल्कुल होना चाहिए। परंतु चंद्रभान जी, राहुल सांकृत्यायन, भोगेन्द्र झा, सहजानंद सरस्वती जैसे महाने किसान नेताओं के बारे में क्या सोचते हैं, वह भी बता दें। ये नेता ब्राह्मण थे, भूमिहार थे जो अपनी ही जाति के जमींदारों के खिलाफ जनता को एकजुट किये। महात्मा गाँधी जाति के वैश्य थे। साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़े। चंद्रभान क्या कहेंगे उनके विषय में। वर्तमान व्यवस्था को भी कोई दलित लेखक तो चाहिए ही जो उनके लिए विटामिन साबित हो सके। चंद्रभान उन थोड़े लेखकों में हैं जो वर्ण व्यवस्था को दीर्घजीवी बनाने में लगे हैं।

संपर्क : स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, रांची

कहानी की तरलता और कथाकार की संवेदनाओं से युक्त यायावरी की दास्तान विनोद साव

यह संयोग ही है कि अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद से तीन यात्रा-वृत्तांतों का संकलन एक साथ प्रकाशित होकर आया है और इन तीनों वृत्तांतों के लेखक साहित्य के अतिरिक्त मीडिया और विभिन्न अखबार समूहों से जुड़े हुए लोग हैं। मीडिया से जुड़े लेखकों को अपनी रिपोर्टिंग के सिलसिले में घूमने-फिरने के भरपूर अवसर मिल जाते हैं जिनका अपनी पर्यवेक्षण दृष्टि से वे रचनात्मक उपयोग कर लेते हैं, इनका सकारात्मक परिणाम होता है यात्रा वृत्तांतों का प्रकाशन। इन यात्रा वृत्तांतों के लेखक असगर वजाहत, पंकज बिष्ट और अनिल यादव संपादन या अनेक माध्यमों से जुड़े हुए लेखक पत्रकार हैं। असगर वजाहत प्राध्यापक होने के अतिरिक्त उपन्यास, कहानी और नाटकों के लेखक व निर्देशक रहे हैं, कुछ पटकथाएँ लिख रहे हैं। उनके नाटक 'जिन लाहौर नई वेख्या' का प्रदर्शन देश की सरहदों के बाहर भी हुआ है। कुछ यात्रा वृत्तांतों के बीच ईरान तथा पाकिस्तान की यात्राओं पर केंद्रित पुस्तकें भी उनकी छपी हैं।

पंकज बिष्ट भारत सरकार की सूचना सेवाओं में निरंतर सक्रिय रहे हैं। आकाशवाणी के अंग्रेजी समाचार विभाग में संवाददाता और समाचार संपादक तथा उनके फिल्म प्रभाग में पटकथा लेखक रहे हैं। कुछ अंग्रेजी व हिंदी पत्रिकाओं के संपादक होने के साथ ही वे उपन्यास व कहानियों के विशिष्ट लेखक हैं।

युवा लेखक एवं पत्रकार अनिल यादव की छात्र एवं किसान आंदोलनों में सक्रियता रही है। अंग्रेजी दैनिक 'द पॉयन्टिर' में प्रधान संवाददाता रहे। उग्रवाद और आदिवासी जीवन के अध्ययन के लिए उत्तर-पूर्व समेत देश के कई हिस्सों की यात्राएँ उन्होंने की हैं। विज्ञान एवं पर्यावरण केंद्र में मीडिया फेलोशिप के तहत अरुणाचल प्रदेश में कार्य किया है। उनका एक कहानी संग्रह 'नगर वधुएँ अखबार नहीं पढ़ती' प्रकाशित हुई है।

इस प्रकार इन तीनों लेखकों में एक समानता यह है कि ये इलेक्ट्रॉनिक एवं प्रिंट मीडिया के विभिन्न माध्यमों से संलग्न होते हुए कहानियों के भी लेखक हैं। इनके पास अपनी निजी विशेषताओं के अतिरिक्त वे अवसर भी हैं जिनसे यायावरी उत्पन्न और सम्पन्न होती है और यात्रा वृत्तांत लिखे जाते हैं।

यात्रा वृत्तांत और कहानी किसी मायने में सहोदर विधा सी लगती हैं। कहानियों के लिए जिस विस्तार, सूक्ष्म निरीक्षण, पर्यवेक्षण, चरित्र चित्रण, कथोपकथन और किसी घटना व स्थान के लिए कथा अभिप्राय की अनिवार्यता होती है वह सब कुछ यायावरी या यात्रा-वृत्तांत लिखे जाने

के लिए भी आवश्यक है। कहानी की भाषायी तरलता यायावरी की दुनियाँ में आकर और भी पानीदार हो जाती है। इसीलिए यात्रा-वृत्तांत के जितने भी लेखक हुए वे कथा जगत की हस्ती रहे हैं। इसके प्रमाण हिंदी में इस विधा के प्रमुख लेखक हैं – राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनीपुरी, यशपाल, प्रभाकर माचवे, अज्ञेय और निर्मल वर्मा आदि। इनमें अज्ञेय और निर्मल वर्मा तो इस मायने में विशिष्ट हैं कि उनके समूचे लेखन में यात्रा की अनुगूँज है। कहते हैं कि निर्मल वर्मा के उपन्यास 'वे दिन' को पढ़ने के उपरांत पाठकों में चेकोस्लावाकिया की राजधानी प्राग को देखने की ललक बढ़ गई थी और कुछ लोग प्राग हो भी आए। निर्मल वर्मा कहानी और यात्रा वृत्तांत के बीच की हल्की विभाजक रेखा को ध्वस्त करते नजर आते हैं। बल्कि त्रयी धारा बहती है और कुछ कहानियाँ रिपोर्ताज की तरह भी लगती हैं। कहानी और यात्रा वृत्तांत इन दोनों विधाओं में लेखन की इस विशेष भंगिमा के कारण साहित्य के आलोचक और संपादक भी भ्रमित होते रहे हैं और कई बार यह देखने में आया है कि कथा संग्रहों में यात्रा वृत्तांत शामिल हो जाते हैं और यात्रा वृत्तांत के संग्रह में कोई कहानी पिरो ली जाती है। ऐसी कृतियों के लेखकों की प्रकृति को रेखांकित करती हुई ज्ञानरंजन की कहानी 'फ़ैन्स के इधर और उधर' की एक पंक्ति है "धूमना और लिखना उसकी जिंदगी ही है। उसके घोर अजनबी अकेलेपन की साथी है उसकी यायावरी।"

साहित्य और उसकी आलोचना की अनेक विडम्बनाओं में एक यह भी है कि कहानी की यह 'सिस्टर कन्सर्न' विधा 'यात्रा वृत्तांत' कहानी विधा की तरह सम्मानजनक स्थान हासिल नहीं कर सकी। बल्कि कहानी ने तो कविता को 'सूपरसीड' करते हुए अनेक विधाओं के बीच केंद्रीय विधा होने का मान भी पा लिया है... लेकिन यात्रा वृत्तांत अपनी सशक्त रचनात्मकता के बाद भी आज भी एक अछूत विधा की तरह हाशिये पर है। मान्यता के मामले में इसकी दशा एक शूद्र विधा 'व्यंग्य' से भी गई बीती है। अघोषित विधा होने के बाद भी हिंदी व्यंग्य के सभी शीर्षस्थ रचनाकारों ने आलोचकों को धता बताते हुए साहित्य अकादमी और पद्मश्री जैसे सम्मानों को प्राप्त कर लिया। व्यंग्य उपन्यास 'राग दरबारी' के लेखक श्रीलाल शुक्ल तो ज्ञानपीठ से भी

नवाजे गए... पर कभी यह सुनने में नहीं आया कि हमारे देश की किसी भी भाषा का कोई लेखक अपने यात्रा वृत्तांतों के लिए ज्ञानपीठ या अकादमी पुरस्कारों से नवाजा गया हो। पुरस्कार सम्मान तो दूर अमूमन यह भी देखने में नहीं आता कि अकादमियों या परिषदों द्वारा यात्रावृत्तांत विधा या उसकी किसी कृति पर कोई चर्चा परिचर्चा रखी जाती हो।

इस मायने में अंग्रेजी साहित्य उदार रहा और अपनी विधाओं के साथ पक्षपात पूर्ण व्यवहार से बचकर यात्रा वृत्तांत को नोबल पुरस्कारों की ऊँचाई तक पहुंचाता रहा है। यायावरी के लेखक 'विद्याधर सूरजप्रसाद नॉयपाल' को नोबल पुरस्कार उनके यात्रा वृत्तांतों के लिए दिया गया था। पाश्चात्य साहित्य के कथा लेखन में भी यात्रा की अनुगूँज होती है जिसका प्रभाव हमारे यहाँ अज्ञेय और निर्मल वर्मा में खूब देखा जा सकता है। यात्रा वृत्तांत साहित्यिक कृतियों होती हैं। अखबारों पत्रिकाओं में पर्यटन अंक के नाम पर जो हर सप्ताह मसाला लेखन होता है उन्हें यात्रा वृत्तांत की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। साहित्य के नाम पर यहाँ लिखने वाले लोग हिंदी के ऐसे धनुष हैं जिनको उठाना बहुत मुश्किल होता है।

यहाँ प्रस्तुत इन तीनों साहित्यिक वृत्तांतों में विचारों का सगुंफन है। इतिहास को देखते हुए देश की वर्तमान दशा पर चिन्ता और उसकी जाँच पड़ताल है। इनकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि सभी लेखकों ने अपने वृत्तांतों में आज के सबसे अधिक समस्याग्रस्त राज्य पूर्वांचल यानी नॉर्थ-ईस्ट-फ्रंट को तरजीह दी है। पूर्वांचल पर कथाकार सतीश जायसवाल के यात्रा वृत्तांतों का भी धारावाहिक प्रकाशन 'वागर्थ' में हुआ था। असगर वजाहत की कृति 'रास्ते की तलाश' के चार वृत्तांतों में से एक 'मिजोरम' पर है। पंकज बिस्ट के संग्रह 'खरामा खरामा' में पूर्वांचल पर एक वृत्तांत लिखा है जो त्रिपुरा पर है। अनिल यादव का एक सौ साठ पृष्ठों का एक ही यात्रा वृत्तांत है 'वह भी कोई देस है महाराज' जिसने उपन्यास का रूप धर लिया है और यह समूचा पूर्वांचल के सातों राज्यों का वृत्तांत है। आइए इन कृतियों पर कुछ बातें करें-

रास्ते की तलाश में

यात्रा वृत्तांत का मोहक वितान

इन तीनों कृतियों में सबसे पहले असगर वजाहत का यात्रा वृत्तांत 'रास्ते की तलाश में' को पढ़ा गया। असगर वजाहत के इन वृत्तांतों में उनके कथा, पटकथा लेखन और निर्देशन का प्रभाव है। इन वृत्तांतों में सपाट बयानीपन नहीं है और कथोपकथन की शैली भी रंग लाई है। स्थानीयता का चित्रण करते हुए और स्थानीयजनों के साथ संवाद करते हुए आगे बढ़ने के कारण इनमें यात्रा की वह सहज स्वाभाविकता है जिन्हें 'ट्रैवलाग' कहने का चलन है। वे घुमन्तु या घुमक्कड़ श्रेणी के पाश्चात्य ट्रैवल्स के करीब हैं। उनके यात्रा संग्रह का प्रकाशन भी पाश्चात्य प्रकाशनों जैसा है। इनमें स्थलों के कई श्वेत श्याम चित्र हैं। आवरण एवं सभी चित्र असगर वजाहत के लिए हुए हैं। चित्र और भी अच्छे लिए जा सकते थे। हिंदी में प्रकाशन की दृष्टि से असगर वजाहत की यह यात्रा चित्रकथा पुस्तिका बड़ी अनूठी है। लेखक ने इसके कलेवर को लेकर जो सतर्कता बरती और प्रकाशक ने इस लेखकीय सतर्कता को सर आँखों पर लेकर जो उम्दा प्रोडक्शन दिया है वह काबिले तारीफ है। ए-४ साइज से कुछ छोटी मात्र अस्सी पृष्ठों की यह पुस्तिका पहली नज़र में किसी एटलस या ब्रूशर की तरह लगती है। हर पृष्ठ में रचनाओं के मुद्रण के साथ चित्रों को भी पिरो लिया गया है इसलिए पढ़ते समय उनके दृश्य भी पाठक के सामने सचित्र होते हैं। इनमें स्थलों का चुनाव भी मनोरम है जिनके लिए अज्ञेय और निर्मल वर्मा को महारत हासिल थी... लेकिन उनकी तरह असगर का लेखन धुंध और कोहरों से भरे पोएटिक स्लो-मोशन में नहीं है बल्कि झरनों और पथरीली पथ पर बढ़ने वाली नदियों की तरह फास्ट पेस में हैं। यद्यपि इनमें शास्त्रीयता का संगीत नहीं गूंजता पर मानवीकरण और सद्भाव के लिए अकुलाहट और बौखलाहट तो है। इन्हें पढ़ते समय पाठक में भी अकुलाहट होती है और जिस द्रुत गति से रचनाएँ लिखी गई हैं उसी द्रुत गति में इन्हें पाठक पढ़ भी लेता है।

इस संग्रह में केवल चार वृत्तांत हैं। इनमें एक आज़रबाईजान की विदेश यात्रा है। दो वृत्तांत देश के भीतर के हैं और एक देश के मेनलैंड से बाहर बसे द्वीप अंडमान निकोबार पर है। असगर का लेखन उनकी षष्ठिपूर्ति के बाद भी युवकोचित उत्साह से भरा हुआ है और वे स्थितियों

का चित्रण बड़ी चपलता से करते फिरते हैं इसलिए भी उनके लेखन में एक किसिम की ताजगी बनी होती है। असगर उन लेखकों में भी जाने जाते हैं जो साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए लिखते हैं लेकिन बिना कोई मुलम्मा ओढ़े सहज स्वाभाविक लेखन वे कर लेते हैं। उनका नाटक 'जिन लाहौर नइ वेख्यां' भी इसकी एक मिसाल है। साथ ही उन्होंने ईरान तथा पाकिस्तान की यात्राएँ कर उन्हें भी जानने समझने का यत्न किया है।

'रास्ते की तलाश में' संग्रह का उनका पहला ही यात्रा वृत्तांत 'आज़रबाईजान : मुस्लिम देश में हिंदू मंदिर' उनकी सद्भावना यात्रा का एक प्रमाण है। कभी महान सोवियत संघ के चौदह संघीय गणराज्यों में से एक जाना जाने वाला आज़रबाईजान सोवियत संघ के बिखर जाने के बाद भी आज तक खूबसूरत देश है। आज हिंदुस्तान के ट्रैवल् एजेंटों के नज़दीकी आकर्षक पैकेजों में उजबेकिस्तान और आज़रबाईजान भी शामिल हैं जहाँ हमारे देशवासी जाने को आतुर रहते हैं। सोवियत संघ में ऐसे कई मुस्लिम देश रहे हैं जिनमें मुस्लिम परस्ती नहीं रही और वे हमेशा देश की मुख्यधारा से जुड़े रहे और जो फारसी उर्दू के चक्कर में नहीं पड़कर हमेशा अपने देश की राष्ट्रभाषा रुसी उजबेकी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं को ही अपनी मातृभाषा की तरह बोलते रहे हैं। ईरान, ईराक, अफगानिस्तान और पाकिस्तान की सीमाओं पर बसे होने के बाद भी इन सोवियत-रूसी देशों ने अपने को आतंकवादी कारनामों से दूर रखा। यह सारी दुनियाँ में वाम देशों की विशेषता रही है कि जहाँ लोग पहले अपने देश के नागरिक होते हैं मुस्लिम, ईसाई और बौद्ध बाद में। कनाडा, सोवियत संघ और चीन जैसे महादेश इसके बड़े प्रमाण हैं। साम्प्रदायिक तत्वों के खिलाफ जो कड़ाई यहाँ बरती गई उसी ने उन्हें राष्ट्रप्रेम सिखाया। यह संवैधानिक राष्ट्रवाद है जो सांस्कृतिक राष्ट्रवाद से भिन्न और ज्यादा लोकतांत्रिक है।

अपनी यात्राओं में असगर वजाहत इस सद्भाव को उकेरते चलते हैं। चाहे वे मुस्लिम देश में मंदिर को खोज रहे हों या कर्नाटक में संस्कृत बोलने वाले गाँव को। वे उन मूल्यों को उद्घाटित करते हैं जो आज की विषमताओं में आवश्यक है। मध्य एशिया के देश आज़रबाईजान की

राजधानी बाकू है। बाकू को 'हवा का शहर' कहा जाता है। कहते हैं कि कैस्पियन सागर के किनारे बसे इस शहर में कभी कभी इतनी तेज हवा चलती है कि भेंड़ें तक उड़ जाती हैं। लेखक में यह जिज्ञासा और उतावलापन है क्योंकि उन्हें यहाँ एक प्राचीन हिंदू मंदिर होने की जानकारी मिली है। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी रुस यात्रा के दौरान इस मंदिर को देखा था और इस पर लिखा भी था।

लेखक अपनी गाइड जाला से पूछते हैं 'यहाँ हिंदू आबादी है?'

'नहीं हिंदू नहीं रहते।'

'तो मंदिर में पूजा पाठ कौन करता है?'

'मंदिर अब संरक्षित संग्रहालय है...सरकार के संरक्षण में है!'

वे इस अग्नि मंदिर के हिंदू अग्नि मंदिर होने के प्रमाण जुटाने में भिड़ जाते हैं। अनेक यूरोपीय इतिहासकारों के मतानुसार वे ऐसे कितने ही उद्धरण देते हैं जिनसे इस मंदिर के निर्माण और उद्देश्य के लिए पुख्ता प्रमाण हमारे सामने होते हैं। वे वर्ष १७४७ में जॉस हेनवे के प्रमाण से आरंभ कर कई साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। यह कांगड़ा शैली का मंदिर है। इसका संबंध कांगड़ा के ज्वालामुखी मंदिर से भी बताया गया है। यहाँ स्थित संग्रहालय के दस्तावेजों से पता चलता है कि बाकू प्राचीन सिल्क रोड पर स्थित है और प्राचीन काल से ही व्यापार का एक बड़ा केंद्र था। यहाँ भारत के व्यापारी भी व्यापार करने आते थे। प्रायः पंजाब और राजस्थान से आए व्यापारी अपनी आस्था और श्रद्धा के कारण इस अग्नि मंदिर से विशेष लगाव रखते थे। इन्हीं व्यापारियों ने इस अग्नि मंदिर का निर्माण कराया था। १८वीं सदी में एक धनवान भारतीय व्यापारी ने इसका जीर्णोद्धार कराया था। यह अग्नि पूजक पारसी धर्म को मानने वालों लिए भी आकर्षण का केंद्र रहा है। अब स्थानीय मुसलमान भी यहाँ आकर अग्निकुंड के सामने आस्था प्रकट करते हैं। ऐसी आस्था है कि उनकी अपनी मान्यताएँ इसमें पूरी होती हैं। जैसे भारत में अनेक मजारों दरगाहों में जाकर हिंदू अपनी मानता मान आते हैं। यहाँ गाँव में जब भी कोई शादी होती है तो विवाहित जोड़ा इस अग्निकुंड के तीन चक्कर लगाता है और मिठाइयाँ, फूल

तथा दूसरे उपहार अग्निदेवी को भेंट करता है। इसके प्रवेशद्वार पर 'ओम गणेशाय नमः अंकित है। प्रवेश द्वार को दो भाइयों उत्तमचंद और शोभाचंद ने बनवाया है १८२३ के आसपास।' मंदिर की स्थापत्य कला और उसके अग्नि कुंड में प्रवाहित की गई अग्नि के अनेक चित्र आलेख के साथ दिए गए हैं।

इसी तरह 'कोंकण से शिमोगा तक : एक अपना विदेश' नामक यात्रा वृत्तान्त में उस गाँव का रोचक उल्लेख है जहाँ दैनिक बोलचाल की भाषा संस्कृत है। कहते हैं कि तीन सौ साल पहले संस्कृत भाषी ब्राम्हणों का समूह केरल और तमिलनाडू की सीमा पर बसे अपने गाँव से पलायन करके शिमोगा (कर्नाटक) में तुंगा नदी के किनारे मुतुर गाँव में आकर बस गया था। शिमोगा जिले के 'मुतुर' गाँव में आज तक संस्कृत भाषा दैनिक बोलचाल की भाषा है। लेखक कहते हैं कि 'गाँव में हमें जो भी नज़र आया वह सफेद धोती पहने था। पूरा गाँव रोज़मर्रा की ज़िंदगी में न केवल संस्कृत बोलता है बल्कि उनका मुख्य काम भी शिक्षा दीक्षा है। इस गाँव की पाठशाला में कोई भी संस्कृत पढ़ सकता है। यहाँ रुमना नाम की एक मुस्लिम लड़की ने संस्कृत में १२५ में से ११५ नंबर प्राप्त किए हैं। गाँव के लोग उस पर गर्व करते हैं।'

इस गाँव में बच्चे क्रिकेट भी खेलते हैं तो धोती पहनकर। क्रिकेट की पूरी शब्दावली के लिए भी खिलाड़ी संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं। जब छक्का लगता है तो खिलाड़ी 'षटा' कहते हैं। बाहर से आए लोग इनसे संस्कृत बोलते हैं तो वे प्रसन्न हो उठते हैं। यहाँ चुनाव के समय ग्रामवासियों का यह दबाव भी रहता है कि नेतागण अपने भाषण एवं प्रचार संस्कृत भाषा में ही करें। संस्कृत में चुनावी पोस्टर लगाए जावें। इस भय से राजनीतिक दल यहाँ प्रचार करने नहीं आते। यह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का गढ़ है। ज्यादा पुरानी बात नहीं है...बस्स आपातकाल के बाद ही यहाँ आर.एस.एस.को प्रवेश मिल सका है। इमरजेंसी के दौरान इस गाँव में भी गिरफ्तारियाँ हुई थीं।

शिमोगा के पास हेगोडू नाम का गाँव है जहाँ 'नीनासम' यानी नीलकण्ठेश्वर नाट्य सेवा संघ नामक थियेटर संस्था है। स्वर्ग तक पहुंचने का रास्ता स्वर्ग से भी अधिक सुन्दर

है। हेगोडू एक पतली-सी सड़क जाती है जिसके दोनों तरफ सुपारी और हरे पेड़ों के बाग हैं। लेखक बताते हैं कि 'हम जहाँ उतरे वहाँ नीनासम का कैम्पस था। थियेटर में कोई शो होने वाला था। यह समझ में नहीं आया कि सुपारी और धान के खेतों के बीच, इस छोटे से गाँव में बनी नाट्यशाला में नाटक देखने कौन आया होगा? लेकिन जैसे जैसे शाम होती गई आने वालों की संख्या बढ़ती गई और सभी टिकट लेकर अंदर जा रहे थे। हम लोगों ने भी टिकट ले लिया। पता चला कि इस छोटे से गाँव में अंतरराष्ट्रीय स्तर का नाट्य संस्थान कैसे बना! हेगोडू में सुपारी बागान के मालिक के.वी.सुबन्ना नाटक प्रेमी थे। १९४९ के आसपास उन्होंने क्षेत्र के दूसरे किसानों को जमा किया था और वे सब मिलकर पौराणिक नाटक खेला करते थे। यह ग्रुप अपने नाटक लेकर बैलगाड़ियों में क्षेत्र का दौरा करता था। यह घुमक्कड़ नाट्य मंडली आज 'त्रिगुरा' के नाम से जानी जाती है यह मंडली हजारों किलोमीटर की यात्रा करती है। सैकड़ों शो करती है और लाखों लोग उनके नाटक देखते हैं। नीनासम अब एक थियेटर संस्थान है। यहाँ थियेटर पाठ्यक्रम चलते हैं। एक फिल्म सोसायटी और प्रकाशन भी सफलतापूर्वक चला रहे हैं। संस्थान में सांस्कृतिक शिविर भी आयोजित किए जाते हैं। यहाँ के एक बैलगाड़ी चलाने वाले ने बताया कि उसने पिछले दिनों यहाँ चार्ली चैपलिन की फिल्म 'मार्डन टाइम्स' देखी थी।

लेखक द्वारा दी गई यह जानकारी अद्भुत है कि यहाँ नाटक और संस्कृति कर्म केवल नाटक खेलने में नहीं लगे हैं बल्कि अपना आर्थिक आधार भी उन्होंने खड़ा किया है। यहाँ 'चर्खा' और उसकी सहोदर संस्था 'कवि-काव्य' बनी। इसे तीस महिला सदस्यों ने शुरू किया और हेंडलूम लगाकर कपड़ा तैयार करने का काम शुरू किया। शुरू में 'कवि काव्य' के कार्यकर्ता साहित्यिक गोष्ठियों में कपड़ा बेचते थे। आज 'चर्खा' एक बहुत बड़ी सहकारी संस्था हो गई है। अब तीस हजार महिलाएँ इसकी सदस्य हो गई हैं। संस्था की आमदनी सभी सदस्यों में बँटती है। संस्था के शोरूम हैं लगभग तीन करोड़ रुपये का व्यवसाय प्रति वर्ष होता है। इसकी कई यूनिटें हैं। महिलाओं को अपने गाँव से दूर काम पर न जाना पड़े इसलिए इसका केंद्रीकरण नहीं

हुआ है। दस-बारह किलोमीटर के अंदर इनकी तीन बड़ी फैक्ट्रियाँ हैं। उनका यह आर्थिक विकास उनके शैक्षणिक और सांस्कृतिक गतिविधियों के संरक्षण के लिए मजबूत आधार बन गया है। इसके कर्ता धर्ता प्रसन्ना से लेखक सीधा सवाल करते हैं कि 'ऐसा उत्तर भारत में संभव नहीं है। इसका क्या कारण है?'

प्रसन्ना बोले कि 'इसका कारण शायद यह है कि उत्तर भारत में समाज सुधार के आंदोलन नहीं चले या बहुत कम चले और इनका प्रभाव बहुत सीमित रहा।' लेखक इस सहकारी यात्रा वृत्तांत का समापन करते हुए कहते हैं कि हम लोग योरोप अमेरिका से न सही, दक्षिण भारत से तो कुछ सीख ही सकते हैं।

खरामा खरामा

जवाबदेही भरा बौद्धिक विमर्श :

इन तीन यात्रा वृत्तांतों में पंकज बिष्ट का 'खरामा खरामा' मेरे पढ़ने के क्रम में दूसरी कृति है। इस कृति में लेखक ने अपनी भूमिका भी लिखी है जो अन्य दो कृतियों में नहीं है। वे कहते हैं कि 'यात्राओं की शुरुआत दुनियाँ को जानने समझने के अलावा जीवनयापन के बेहतर साधनों की तलाश से शुरू होकर संपन्न और सुविधा जनक स्थलों को फतह करने और उन पर कब्जा जमाने तक पहुँची है। जहाँ योरोप में यात्रा वृत्तांतों की भरमार है, भारतीय वांगमय में यात्रा वृत्तांतों का लगभग अभाव है।'

यह सही है कि भारतीय भाषाओं में यात्रा वृत्तांतों का अभाव रहा है, जो लिखा गया उनकी मान्यता उत्साह वर्द्धक नहीं रही... जबकि भारतीय समाज में तीर्थाटन की समृद्ध परम्परा रही है। देशाटन करने वाले समाज सुधारकों की कमी नहीं रही है... पर अपनी यात्राओं को लिपिबद्ध करने का चलन हमारे यहाँ नहीं रहा, बल्कि यहाँ भी श्रुति परंपरा ही काम करती रही। यात्रा लिखने की नहीं किसी लोक कथा की तरह उसे कहने की परंपरा हमारे घर समाज में रही है। यात्रा संपन्न करने के बाद अपनी यात्रा कथा को सुनाने की ललक घुमन्तुओं में रही है और श्रोताओं में उन्हें सुनने की। इतिहास विद नेहरु मानते थे कि 'कदीम हिंदुस्तानी इतिहासकार नहीं थे। यह एक दुर्भाग्य की बात है और इसके कारण आज हमारे लिए तिथियाँ या कालक्रम

निश्चित करना मुश्किल हो गया है। बहुत धीरज के साथ मेहनत करके ही विद्वानों ने हिंदुस्तानी इतिहास की भूल भुलैया के बीच से कुछ अता पता लगाया है।' इनमें से ज्यादातर विद्वान इतिहासकार यूरोप के थे। देशभक्त नेहरु के मन में इतिहास को देखने की जो पाश्चात्य दृष्टि पनपी वह इसीलिए बनी क्योंकि हिंदुस्तानी इतिहासकारों के अभाव में उन्हें पाश्चात्य इतिहासकारों का सहारा जो लेना पड़ा था। यही स्थिति यात्रा वृत्तांत साहित्य की रही है पश्चिम में भरपूर लिखे गए और भारत में कम। पर इतना भी कम नहीं है कि उन पर बातें न की जाएं...और ये मान लिया जाए कि जो लिखा गया है वह महत्वपूर्ण नहीं है।

पंकज बिष्ट अपने इन वृत्तांतों के बारे में कहते हैं कि 'दो शताब्दियों के चार दशकों में फैले इन वृत्तांतों में अधिकांश पहाड़ और गुजरात की दो धुरियों के आसपास रचे गए हैं, जिन्हें मैं निकटता से जानता हूँ या जानने की कोशिश करता हूँ।' लेखक ने अपनी रचनाओं के नीचे अपनी यात्रा तिथि और लेखन तिथि दोनों को रखा है ताकि पाठक उस कालखण्ड विशेष का अहसास कर सके जिस समय और परिस्थितियों में ये वृत्तांत लिखे गये हैं। इनमें पश्चिमी प्रांतर, सुदूर पूर्व और उत्तरांचल के पहाड़ों और क्षेत्रों की यात्रा है। संग्रह के अंत में दो यात्रा वृत्तांतों की समीक्षाएँ हैं जिनमें '१९वीं सदी में हिमालय : पं. नैनसिंह रावत की तिब्बत यात्राएँ' और नेत्रसिंह रावत के यात्रा वृत्तांत 'पत्थर और पानी' की भूमिका है 'एक यात्रा का साक्षी' शीर्षक से। अंडमान पर असगर वजाहत ने भी लिखा है और पंकज बिष्ट ने भी।

बिष्ट की इन रचनाओं में यात्रा वृत्तांत लिखने की वह सुपरिचित शैली नहीं है जिसमें यायावरी या ट्रैवलॉग लिखने का चलन है...और जिसे पढ़ते समय पाठक को किसी यात्रा में निकल पड़ने का निरंतर बोध होता है। जहाँ लेखक अपने वृत्तांतों का ऐसा वितान बुनता है कि जिसमें पाठक अपने घर में बैठा हुआ ही किसी दूसरी दुनियाँ में चला जाता है और उसमें समाहित हो जाता है और उसे लेखक के सहायात्री होने का या खुद के स्वतंत्र यात्री होने का सुखद भ्रम हो जाता है। वह सागर की लहरों, पर्वतों की उत्तुंग शिखाओं या किसी वन प्रांतर में आच्छादित घने जंगलों की

हरीतिमा में अपने को लीन कर लेता है। रहस्यमयी कंदराओं और उनके भित्ति चित्रों की उकेरी गई रेखाओं में वह तिरोहित हो जाता है। शहरों की आधुनिकता की चकाचौंध और उसकी बेबस बेसहाय ज़िन्दगी के अंधेरे कोने कुण्टकों को देख सिसकार उठता है। गाँव कस्बों के जन-जीवन और लोक-संस्कृतियों को देख आनंदातिरेक से वह नर्तन कर उठता है। एक ऐसे मायावी और सूक्ष्म प्रभामंडल में वह किसी गर्भस्थ शिशु की तरह विचरण करने लग जाता है जहाँ मैं 'मैं' नहीं रहकर किसी 'सार्वभौमिकता' में तब्दील हो जाता है। यह 'skilled trade' यानी कौशल का काम है - किताबें लिखना भी एक 'skilled trade' हैं। 'ट्रेजर आइलैंड' के लेखक राबर्ट लुई एटीवेंसन के 'ट्रेजर आइलैंड' को पढ़ते समय कुछ ऐसा ही पाठकों के सामने एक चमत्कारिक संसार मौजूद हो उठता है। हिंदी में निर्मल वर्मा की कहानियों और यात्रा वृत्तांतों में उनकी कहानी के शीर्षक की तरह हरदम कोई 'दूसरी दुनियाँ' उपस्थित हो जाती है जिसमें पाठक उनके साथ होता चला जाता है।

बावजूद इन सबके वृत्तांतों को लिखते समय हर बार कोई तिलस्म या चामत्कारिक अनुभूति नहीं पैदा जा सकती। कई बार यह सीधा सपाट एक ऐसा विस्तार होता है जिसमें लेखक तथ्य परकता के लिए जगहें बनाता चलता है। पंकज बिष्ट को यह रास्ता पसंद है और उनकी यह पसंदगी उनके आरंभिक वक्तव्य में शामिल है कि 'ये कभी वृत्तांत हैं तो कभी सामाजिक टिप्पणियाँ और कभी संवाद।' पंकज बिष्ट ने अपने वृत्तांत में जगहों की भौगोलिक दूरियाँ तय करने के अलावा स्थानीय संस्कृतियों से गहन संवाद किया है जो उनकी यात्राओं की आत्मा है। संवाद करते उनके ये वृत्तांत कहीं कहीं पर आलोचनात्मक आलेख में ढल जाते हैं। यात्रा के अनेक पड़ावों के बीच उनके चितन-मनन का लम्बा ठहराव कई जगहों में दीख पड़ता है - जैसे 'मीरा के देश में एक नास्तिक' या दूसरे किसी वृत्तांत में।

ओखा-द्वारका पर उनकी हुई संग्रह की पहली यात्रा 'अपने देश में अपनी तलाश' यायावरी का एक चिर-परिचित स्वाभाविक वृत्तांत है जिनके लिए यात्रा वृत्तांत जाने जाते हैं। वर्ष १९७१ के इस वृत्तांत में गुजरात के तटवर्ती

क्षेत्र में समुद्र दर्शन का एक विडंबना पूर्ण चित्रण देखें 'पहली बार समुद्र को देखा। बड़ा अजीब लगा। कितना कुछ सुन रखा था। इतना बड़ा होता है, उतना बड़ा होता है। लगा कुछ ही दूर जाकर समाप्त हो गया है। मुझे कुछ प्रभावित नहीं किया समुद्र ने। जैसे कोई बड़ी नदी हो। अपनी गंगा भी देखी है और बाढ़ में यमुना का जोश भी देखा है। लगा समुद्र बूढ़ा है। जोश नहीं, कोई आवेग नहीं। इतना पानी है पर अजब सुस्त-सा। कब आएगा ज्वार?' खंभात की खाड़ी में ज्वार कब आएगा यह चिन्ता गुजरात में अधिकांश पर्यटकों की रहती है। ऐसे शुष्क समुद्र जो अपनी तट छोड़कर मीलों दूर दलदल में अजगर की तरह ऊँघते पड़े हैं यह दृश्य गुजरात की कितनी ही तटों पर देखा जा सकता है। समुद्र की तुलना में ज्वार गुजरात के जन-समुद्र में जल्दी आ जाता है और पिछले कुछ बरसों में जनता के बीच यह उफान कई स्तरों पर देखने को मिला जिसमें गोधरा काण्ड जैसी अनेकों घटनाओं में दो हजार लोगों की हत्या हो गई। लेखक पूछते हैं 'अडवानी की सोमनाथ यात्रा क्या महमूद गजनवी की सोमनाथ यात्रा का जवाब थी?' गांधी का यह देश इतना हिंसक हो गया कि अंग्रेजी के अखबार गुजरात को 'गुजराएट्स' छापने लग गए थे। लेखक की बड़ी हुई दाढ़ी को देखकर मंदिर प्रवेश के समय पंडा तैश में पूछता है 'कौन जात? जात तो यहाँ बताना होता है। मुसलमान और ख्रीस्त प्रवेश नहीं कर सकते।' और उसने गुजराती और अंग्रेजी में लिखे नोटिस बोर्ड की ओर इशारा किया 'देखो सामने क्या लिखा है।' गीता में कहा गया है कि 'जब जब धर्म की हानि होती है कोई न कोई उद्धारक जन्म लेता है'। ऐसा लगता है अपने अपने युग में जिन प्रयोजनों से राम और कृष्ण को जन्म लेना पड़ा होगा ऐसे ही तारनहार के रूप में गाँधी जी ने गुजरात में जन्म लिया होगा। पुरातन पंथियों के हिसाब से संभव है अगला कोई अवतार यहाँ फिर नैया पार कराने आवे।

अपने यात्रा प्रवास पर लेखक का बौद्धिक विमर्श अपने चरम पर दो यात्राओं में दो व्यक्तियों पर दिखलाई पड़ता है – जब वे अजंता की यात्रा कर रहे होते हैं तब 'बुद्ध' पर और चित्तौड़ की यात्रा के समय 'मीरा' पर। इन दोनों ही

यात्राओं में उनका लेखकीय द्वन्द्व जमकर मुखरित हुआ है। बुद्ध और मीरा के त्याग व बलिदान के पश्चात भी उनकी सामाजिक अवमानना जो उनके समय से लेकर आज पर्यन्त तक बनी हुई है इस पर लेखक में एक स्वाभाविक आक्रोश कदम कदम पर देखने को मिलता है। संग्रह के दूसरे वृत्तांत '*विद्रोह की पगडंडी : मीरा के देश में एक नास्तिक*' शीर्षक से लिखा गया वही वृत्तांत है जो किसी आलोचनात्मक निबंध की शक्ल ले लेता है। इसमें मीरा का यह कथन 'नहीं भावै थारो देसलड़ो रंगरुड़ो/थारो देश मा राणा साध नहीं छै...लोग बसैं सब कूड़ो' में मीरा का यह विद्रोही स्वर लेखक के शब्दों में इस प्रकार आक्रोशित होता है 'चित्तौड़ वासियों के प्रति मीरा के मन में किस तरह का गुस्सा रहा होगा, ये पंक्तियाँ उसका उदाहरण हैं। निश्चय ही यह गुस्सा और हिकारत उन लोगों के खिलाफ नहीं है जो स्वयं पीड़ित और शोषित हैं और दमित हैं। असल में मीरा उन लोगों को कूड़ा कह रही है जो सत्ता प्रतिष्ठान में मायने रखते हैं। जो कायर हैं और हैं चापलूस। मीरा जिन साधुओं की तलाश में है वे परंपरागत अर्थ में साधु नहीं हैं। बल्कि वे साधु हैं जो मानवीय गौरव, स्वाभिमान और समानता का सम्मान करने की हिम्मत रखते हैं और राजा से कह सकते हैं कि आप मूर्ख हैं। मीरा का क्रोध मात्र व्यक्तिगत रंजिश नहीं है। उनके जीवन काल में जो भी चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा वह न तो अपने शौर्य के लिए और न ही प्रशासनिक क्षमता के लिए जाना जाता है। इनमें से दो का तो दरबारी षडयंत्र के चलते कत्ल ही हो गया था।' ऐसे कितने ही प्रसंग हैं जो मीरा के मानसिक उत्कर्ष और उनके पर पीड़न के प्रति सघन संवेदना को प्रमाणित करते हैं। आज ऐसे समय में जब राजस्थान के सामंती पर्यटन उद्योग को बढ़ावा देने के लिए 'पैलेस ऑन व्हील' जैसी दुनियाँ की सबसे महंगी रेलसेवा मुहैया करवाई जा रही है, अरबों के इन्फ्रा-स्ट्रक्चर से विदेशी पर्यटकों और अप्रवासी भारतीयों को रिझाने और उनके लिए ऐशगाह तैयार करने के लिए कृत्रिम गाँव बसाए गए हैं। वहाँ अपने ही प्रदेश की महानतम साध्वी कवियित्री मीराबाई की तमाम स्मृतियों को विलोपित कर दिया जा रहा है। लेखक का ध्यानाकर्षण है कि 'आधुनिकता स्थानीयता को कदम कदम पर रौंदती बढ़ रही है। आक्रामकता का ऐसा बर्बर तेवर कि

छोटी छोटी सी चीज नेस्तनाबूद कर दी जाए आज तक के इतिहास में नहीं देखा गया।’

बुद्ध को लेकर भी लेखक की संवेदनाएँ घनीभूत हैं ‘आस्था की गुफाओं की चमक और कला के अंधेरे कोने’ शीर्षक वाले वृत्तांत में उनका डूबान देखते बनता है। सहयाद्री की सौम्य और शिशुवत पहाड़ियों में वे अजंता के निकट होते हैं तब वे भावना के इस धरातल पर होते हैं ‘अपने पूर्व अर्जित किताबी ज्ञान से लैस होने के बावजूद पहली गुफा में प्रवेश के बाद ही मैं बदला हुआ आदमी था। अवाक! संभवतः मैंने २३ सौ वर्षों की कालावधि को किसी टाइम मशीन की तरह एक ही पल में पार कर लिया था। सुंदर और ऐतिहासिक होने की अपेक्षा थी, पर जो देख रहा था अपने वैभव, परिकल्पना, कल्पनाशीलता, नवोन्मेष (इनोवेटिवनेस), कलात्मकता, समर्पण, भक्ति, धैर्य, श्रम और अपरंपरात्मकता से चकित करने वाला था...।’ यह है मैजिकल रियलिज्म – जादुई यथार्थवाद जिसमें यथार्थ की कल्पना के अविश्वसनीय लोक में जलरंगों की तरह अनायास ही प्रवेश कर जाने की संभावना हो। अजंता वही है। कला की बेचैन कर देने वाली अभिव्यक्ति जो आज भी कलाकारों, कलमकारों और विचारकों को गहन जिज्ञासा से भर देती है और उन्हें अनेक आयामों पर निरंतर प्रेरित करती है, कभी सायास प्रेरणा तो कभी अनायास प्रेरणा। कला की यह शीर्ष अभिव्यक्ति बुद्ध की गहन दार्शनिकता और धर्म के संदेश से परिपूरित हैं। इस पर भी उनकी विविधता – विषाद, पीड़ा, बिछोह, दैवत्व, आनंद की भाव-भंगिमाएँ जातक कथाओं और बुद्ध के जीवन की कथाओं को लांघ मानव जीवन की बेहद आत्मीय अभिव्यक्तियों के कोरों को छूने लगती हैं।

लेखक अजंता को देखते समय और बुद्ध पर चिन्तन करते समय पूरी तरह से बुद्ध के वैज्ञानिक तर्कों और उनके व्यावहारिक कार्यों को आधार बनाकर ही विश्लेषण करते हैं। गुफाओं की पेंटिंग्स और भित्ति चित्रों के प्रति मोहित हैं लेकिन यह किसी तीर्थाटन करने वाले का भक्ति भाव नहीं है यह किसी प्राध्यापक का हवाई फलसफ़ा नहीं है। बल्कि एक ऐसे सचेत नागरिक का दृष्टिकोण है जो बुद्ध के समय की लोकतांत्रिक, उदार और मानवीय विकास पद्धति के भीतर की संवैधानिकता और उसकी नागरिकता को तलाशता

है। लेखक की आस्था यहाँ प्रमाणित होती है कि ‘बुद्ध का महत्व उनके देवत्व में नहीं बल्कि उनकी मानवता में है।’ बुद्ध ने अपने अनुयायियों को यह आदेश दिया था कि वे अपने आपको केवल भिक्षुओं के रूप में नहीं, वरन् सामाजिक न्याय, और सुधारों के लिए दृढ़ता से संघर्ष करने वालों के रूप में प्रशिक्षित और अनुशासित करें। बुद्ध व्यक्ति को उसके कर्म के अनुसार महत्व देते हैं न कि उसकी जाति के आधार पर।

पंकज बिस्ट ने पूर्वांचल पर एक वृत्तांत लिखा है वह अगरतला पर है। यहाँ असगर वजाहत की तरह पूर्वांचल के मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य और उसकी जिजीविषा से भरा वर्णन नहीं है और न ही अनिल यादव की तरह अलगाववाद के हिंसक भँवर में घूमता वर्तमान पूर्वांचल का झंझावात है। ‘एकांत के पचास वर्ष और रुद्रसागर का मांझी’ शीर्षक से लिखे गए बिष्ट के इस वृत्तांत का मुख्य शहर त्रिपुरा की राजधानी ‘अगरतला’ है। लेखक की निजी विशेषता यह है कि वे जहाँ भी जाते हैं अपने साथ बौद्धिक-सांस्कृतिक विमर्श के लिए तर्कों का पिटारा तैयार रखते हैं। यहाँ वे अगरतला के पुस्तक मेले में शामिल होते हैं और समकालीन साहित्य, उसके प्रकाशन और मेले में लगे स्टॉल व इस अवसर पर हुए साहित्यिक आयोजनों की जाँच पड़ताल करते हैं। त्रिपुरा मात्र साढ़े दस हजार एकड़ पर बसा भारतवर्ष का संभवतः सबसे छोटा प्रदेश है। यह बांग्ला देश की सीमा के किनारे लम्बी दूरी तक बसा राज्य है पर लेखक के शब्दों में ‘क्या हिंदी के किसी राज्य में किसी पुस्तक मेले ने इस तरह का महत्व हासिल किया है? संभवतः पटना पुस्तक मेला कुछ हद तक इन अपेक्षाओं के निकट पहुंचता हो अन्यथा न लखनऊ, न जयपुर न भोपाल-शायद ही कहीं पुस्तक मेला किसी शहर के सांस्कृतिक-बौद्धिक जीवन का इतना महत्वपूर्ण अंग बन पाया हो। हों ताज उत्सव, अवध उत्सव, ऊंट मेला, पुष्कर, कुंभ, अमरनाथ वगैरह वगैरह तमाशे हिंदी क्षेत्र में आए दिन होते रहते हैं जिनकी इस क्षेत्र के लोगों के सांस्कृतिक जीवन के विकास और पोषण में शायद ही कोई भूमिका हो। हिंदी प्रकाशन के इलाहाबाद, लखनऊ, पटना जैसे क्षेत्रीय केंद्र सिमटते जा रहे हैं और सब कुछ दिल्ली में केंद्रित हो गया है जहाँ हिंदी

लेखक ज्यादा है और पाठक कम। यह अचानक नहीं है कि हिंदी क्षेत्र में जो भी पुस्तक संस्कृति थी वह रसातल में चली गई है और जिसका विकास हुआ है वह है कार सेवक और कॉवड़ियों का, जो यहाँ की मिली जुली परंपरा का ही ध्वंस नहीं कर रहे हैं बल्कि आधुनिक जीवन के लिए भी एक बड़े खतरे के रूप में उभर रहे हैं।'

एक छोटे राज्य के दस दिवसीय पुस्तक मेले में दूसरे ही दिन पन्द्रह हजार लोगों की भीड़ का उमड़ पड़ना और तीसरे दिन तक उन्नीस लाख रुपयों की पुस्तकों की खरीदी हो जाना उस सुदूर अंचल की पुस्तक संस्कृति का कितना बड़ा प्रमाण है... पर मुख्य भारत की मीडिया में जिस तरह से त्रिपुरा की अनदेखी हो जाती है और आतंकवादी घटनाओं के अलावा शायद ही त्रिपुरा का कभी कोई समाचार बनता हो। ऐसी अनदेखी पश्चिम बंगाल के अखबारों से भी हो जाती है जो पूर्वी भारत के प्रतिनिधि होने का दावा करते हैं। कोलकाता के अखबार रियो डि जेनेरिओ के कार्निवाल और जॉर्जिओ अरमानी के नए समर फैशन शो को लेकर जरूर उत्साहित रहते हैं लेकिन अगरतला के पुस्तक मेले को एक पंक्ति के समाचार के लायक भी वे नहीं मानते। त्रिपुरा को भारत का 'डार्क कांटिनेंट' भी कह दिया जाता है। अंधेरा महाद्वीप न हो, उजाले के लिए छटपटाता एक कोना तो है ही।

किसी अंधेरे द्वीप में नाव में बैठे उसके मांझी को गाने से कैसे रोका जा सकता है। बंगाल से लेकर पूर्वांचल का यह पूरा इलाका विशाल नदियों से भरा पूरा है और इसलिए नदी, नाव और मांझी का एक काव्यमय दृश्य कहीं भी दृष्ट्य हो उठता है। उनकी कथा-व्यथा अनेक मांझी गीतों में व्यक्त होती हैं। नाट्य मंचों के पृष्ठ भाग पर छायाचित्रों के माध्यम से नाव और उसकी पतवार दिख जाती है। इनमें मांझी दृश्य और गीत गूंजते हैं। उनकी फिल्मों में ऐसे अनेक प्रणय दृश्य फिल्माए जाते हैं जिसमें कोई मांझी गाकर प्रेमी हृदय की वीणा के तारों को झंकृत कर रहा हो। पंकज बिष्ट को भी यह अनुभूति यहाँ होती है जब वे मीलों लम्बी रुद्रसागर की झील में किसी मांझी और उसके गायन के साथ नाव में बैठे होते हैं। उन्हें मांझी गीतों के विशेषज्ञ सच्चिन देव बर्मन की याद हो आती है जिनका नाम आते ही

त्रिपुरावासियों की आँखें चमकने लगती हैं। वे यहीं के राजपरिवार के थे। अगरतला में उनकी मूर्ति स्थापित है। मांझी वाले गीत के कारण उनको भूलना मुश्किल है। संभवतः १९६८ में बनी फिल्म 'बंदिनी' का यह गीत लेखक के भीतर गूंज उठता है 'ओ मेरे मांझी ले चल पार अब की बार, मेरे साजन हैं उस पार।'

इस तरह प्राकृतिक सौंदर्य, मानवीय बर्बरता व वीरता की कहानियों के बीच या जब तक बर्फ नहीं पड़ती या फिर पहाड़, गाय और सूअर के लम्बे और कलात्मक शीर्षकों के भीतर पंकज बिष्ट की पहाड़ी यात्राओं के अनेक उतार चढ़ाव हैं जिन्हें कहीं वे कथाकार की कमनीयता से उकेरते हैं तो कहीं समाचार संवाददाता की तरह वे हमें आँखों देखा हाल सुनाते हैं। वे जवाब देही के साथ लिखते हैं। 'चीड़ों पर चाँदनी' में निर्मल वर्मा कहते हैं - 'जीने का अर्थ है जवाबदेह होना अपने को एक खास मानवीय स्थिति के प्रति कॅमिट करना।' सार्त्र का यह कथन 'उस मानवतावादी परम्परा पर गहरा आरोप है जो अपने 'शाश्वत मूल्यों' की बेड़ियों में बंधी होने के कारण किसी ऐतिहासिक स्थिति के प्रति जवाबदेह होने से कतराती है।' पंकज बिष्ट अपने यात्रा वृत्तांतों को लिखते समय उस ऐतिहासिक स्थिति के प्रति जवाबदेह होने से नहीं कतराते हैं।

वह भी कोई देस है महाराज:

पूर्वांचल की सनसनी और वृत्तांत का विस्फोट

असम राहत कोष - केयर टुडे के नागरिकों से दिल खोलकर दान देने की अपील। केयर टुडे शांतिप्रिय लोगों और कॉर्पोरेट हाउस से अपील करता है कि वे असम में भड़की भयानक हिंसा का शिकार हुए लोगों की मदद के लिए आगे आएँ और असम राहत कोष में सक्रिय योगदान करें। हिंसा के कारण कई मासूम लोग अब भी मुश्किल परिस्थितियों में राहत शिविरों में रहने पर मजबूर हैं। ताजा रिपोर्ट के मुताबिक ९६ लोग मारे गए हैं जबकि २,५०,००० अब भी २१९ शिविरों में रह रहे हैं। राहत शिविरों और अपने समुदाय के पास लौटने का विकल्प चुनने वालों को हमारे सहयोग की जरूरत है।

बेघर बच्चों को विशेष सहायता और सहयोग की दरकार। आप भी बदलाव ला सकते हैं।

इस अपील के अतिरिक्त एक समाचार कि राहुल गोंधी दंगा पीड़ित असम के राहत शिविरों में गए थे। विपक्ष आशंकित है कि वे गए कहाँ थे? कभी इंडिया टुडे में छपने वाली यह अपील पूर्वांचल के प्रवेश द्वार आज के असम की हृदय विदारक दशा का बयान करती है।

पूर्वांचल जो समग्र भारत में सबसे कम घूमा जाने वाला प्रांतर है। यह भारत के नक्शे में पूर्वोत्तर हिस्से में उपर है लेकिन तीर्थाटन प्रेमी भारतीय पर्यटकों के लिए यह यात्रा की प्राथमिकताओं में सबसे नीचे है, क्योंकि यहाँ बहुसंख्यक हिंदू जनमानस का कोई महत्वपूर्ण तीर्थ स्थान नहीं है और न ही आज जैसे कॉर्पोरेट श्रेणी के धर्म गुरुओं का कोई आश्रम... जहाँ सत्य की ओर पीठ कर सत्य की खोज में निकले दर्शनार्थियों की भीड़ नहीं होती वह लेखकों कलाकारों की पसंदीदा जगह होती है। ऐसे विरल क्षेत्र सर्जकों को लुभाते आए हैं। पूर्वांचल का अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य हमेशा से सर्जकों और चित्तेरों को अपनी ओर खींचता आया है। एकबारगी असम मिजोरम जैसे नाम आते ही किसी शहजादी, गुड़ियों और परियों के देश की कल्पना हो जाती है। उनके जनजाति समुदायों के भीतर जंकृत लोक जीवन ने अनेक जिज्ञासाएँ जगाई हैं। सीमावर्ती देशों के प्रभाव से उपजे यहाँ के राजनीतिक कूटनीतिक उठापटक ने देश की मीडिया की नज़र में उसे सनसनीखेज माना है और वह हर ऐसी विषम परिस्थितियों के 'कव्हेरेज' के लिए यहाँ दौड़ता आया है। पूर्वांचल की कुछ ऐसी ही तासीर और उसकी तकदीर के फ़सानों ने लेखक पत्रकार अनिल यादव को भी अपनी ओर रुखसत किया है जिसका नतीजा उनकी नवीन कृति '*वह भी कोई देस है महाराज*' के रूप में आया है। दुनियाँ की सबसे बड़ी रेल सेवा भारतीय रेलें भी देश की थड़कन कही जाती हैं जो देश के दूरन्त हिस्से की दशा को अपने गंतव्य स्टेशन से ही बयों कर देती हैं "पुरानी दिल्ली के भयानक गंदगी, बदबू और भीड़ से भरे प्लेटफार्म नंबर नौ पर खड़ी मटमैली ब्रम्हापुत्र मेल के अंधेरे डिब्बे की टूटी खिड़कियों पर उल्टियों से बनी धारियाँ झिलमिला रही थीं जो सूखकर पपड़ी हो गई थीं। रेलवे ट्रैक पर नेवले और बिल्ली के बीच के आकार के चूहे बेखौफ घूम रहे थे। २९ नवंबर २००० की उस रात भी शरीर के

खुले हिस्से मच्छरों के डंक से चुनचुना रहे थे। इस ट्रेन को देखकर सहज निष्कर्ष चला आता था – चूँकि वह देश के सबसे रहस्यमय और उपेक्षित हिस्से की ओर जा रही थी इसलिए अंधेरे में उदास खड़ी थी।"

इस और इन जैसे कितने ही बयान लेखक अनिल यादव की कलम से और भी विस्फोटक होकर उनके यात्रावृत्त '*वह भी कोई देस है महाराज*' में हाजिर होते हैं। इस बदली राजनैतिक स्थितियों में उपरी तौर पर आज कुछ परिवर्तन भले दिखे पर यहां कई दशकों के एक बड़े कालखण्ड का यह नॉर्थ ईस्ट फ्रंट यानी पूर्वांचल की जमीनी हकीकत का बयान है जो आँखों देखा हाल सुनाने की तर्ज पर हमारे सामने आता है। इस कृति में लेखक के लिखने का ढंग पूर्व की दोनों कृतियों के लेखक से बिल्कुल भिन्न है। इसमें नई पीढ़ी का तरो ताजापन है। आज जब हम हिंदी साहित्य की नयी पीढ़ी में सार्थक लेखन के अभाव की चिन्ता से ग्रस्त हो रहे हैं तब ऐसे में अनिल यादव जैसी नयी संभावनाओं और प्रतिभा से भरे लेखक को पाकर अभिभूत हो सकते हैं जिनके नव लेखन के कई 'शेड्स' हैं। घटना को अंतहीन विस्तार देने की उनकी कला अद्भुत है और इतनी कलात्मक भी नहीं कि आलोचक उन पर कलावाद का आरोप मढ़ दें। घटनाओं को उनके विश्वसनीय यथार्थ में रखते हुए लेखक की जवाबदेही अपने स्वाभाविक रूप में है। इसमें पिछले दो संग्रहों की तरह अलग अलग यात्रा वृत्तांत नहीं हैं। यह १६० पृष्ठों का एक ही वृत्तांत है और पूर्वांचल पर ही केंद्रित है। यह लेखक की पूर्वांचल यात्रा के छः महीनों का कालखंड है। उनके प्रवासीपन की संवेदनशील अभिव्यक्ति ने इस यात्रावृत्त में उनकी विशेष पहचान बनाई है। इसे तथ्य जन्य बनाने अनेक संदर्भों की तलाश में उन्होंने लिखने में दस वर्ष लगाए हैं। यह कृति किसी तारीख विहीन डायरी की तरह है पर लेखक ने अपनी संपादन कला से रचना का बेहतर संयोजन किया है और यह एक औपन्यासिक यात्रावृत्त बन पड़ा है। यह एक कथाकार की पत्रकार दृष्टि है जो संयोग से लेखक में दोनों होने के कारण है। अनिल यादव ने अपने युवकोचित उत्साह को बनाए रखते हुए भी लेखकीय गंभीरता और विश्वसनीयता का परिचय दिया है।

यह युवा लेखक का एक साहसिक उपक्रम है, जिसमें सर्दी के पूरे महीनों को उन्होंने तिब्बत-चीन सीमा के हिमालयन रेंज पर बिताया है। वर्ष २००० में जब पूरा पूर्वांचल भयंकर रूप से अपनी अराजक और आक्रांत यात्रा की शुरुआत कर चुका था, ऐसे समय में अखबारी रपट तैयार करने के लिए पूर्वांचल के सातों राज्यों की उनकी सिलसिलेवार यात्रा काफी जोखिम भरी रही होगी। इस दौरान कितने ही सियासती दंगों और अलगाव वादी बलवा ग्रस्त क्षेत्रों में वे दौड़ते भागते रहे होंगे। कितने ही जन-जातीय समुदाय के आपसी वैमनस्य और घृणा से उपजे बवालों और हिंसक हमलों के बीच लेखक अपनी जगह बनाते फिरे होंगे। इन सारी जुगुप्सा और भय जगाती घटनाओं के बीच रहते हुए भी लेखक का अपना मस्त मौलापन मौजूद है जिसने उनकी लेखकीय तटस्थता को बनाए रखते हुए रचना को सरस बनाया है। इसे पढ़ते समय कभी कभी उदयप्रकाश की कहानियों की याद हो आती है जिनकी हर कथा किसी न किसी लोमहर्षक घटना का वृत्तांत होती है, लेकिन यहाँ कहानीकार का कोई जादुई यथार्थ नहीं है बल्कि यात्रा वृत्तांतकार का आँखन देखी यथार्थ है जहाँ स्थितियों घटनाओं की आक्रामकता और वीभत्सता ने ऐसा अकाल्पनिक रूप धर लिया है कि सच ने जादू का रूप ले लिया है – ब्रह्मपुत्र में आयी बाढ़ की तरह जिसके नुकसान की भरपाई के लिए १९५४ से अब तक जो पैकेज दिए गए हैं वह राशि तैंतीस हजार करोड़ की है।

यही ब्रह्मपुत्र है जिसकी तट पर जनमे लोकगायक भूपेन हजारिका की स्वर लहरी असम के बाहर भी लोगों के हृदय में गूंजती थी। उनके गीत 'गंगा आमार मां' तथा 'डोला ओ डोला' हर कोई गुनगुना उठता था। बिहार की प्रसिद्ध लोक गायिका शारदा सिन्हा कहती है कि 'बिहू, ब्रह्मपुत्र और भूपेन हजारिका एक दूसरे के पर्यायवाची हैं जिनके गीतों में मानवता, साम्प्रदायिक सौहार्द, न्याय और वैश्विक भाइचारे के संदेश निहित हैं। उनके गीत 'मानुष मोनुषेर जोनो' आज भी बांग्ला देश में उसके राष्ट्रगान के बाद सबसे लोकप्रिय गीत है। जबकि आज असम में हालत हिंदी फिल्म 'रुदाली' में गाये उनके गीत की तरह 'दिल हूम हूम करे' हो रहा है।"

किताब का शीर्षक 'वह भी कोई देस है महाराज' ट्रेन में बैठे एक बिहारी यात्री का तकिया कलाम है जो खैनी खाते हुए लेखक से वार्ता कर रहा है और पूर्वांचल के हाल-बेहाल पर टिप्पणी करते हुए बात बात पर कह उठता है कि 'वह भी कोई देस है महाराज'। यह शीर्षक किताब को पढ़ते समय हमेशा गूंजता रहता है। तब और अधिक गूंज उठता है जब वहाँ की किसी दशा का दारुण चित्रण हो उठता है। पूर्वांचल, विशेषकर असम में उठे अनेक संकटों में से एक संकट बिहार के लिए भी है और बिहार के लिए उठा यह संकट वहाँ रह रहे समस्त हिंदी भाषियों का संकट हो गया है। तेजस्वी 'बिहार' न केवल अपने राज्य को हमेशा गरमाता रहा है बल्कि जहाँ भी गया वहाँ उसकी आँच और ताप ने अपना प्रभाव छोड़ा है। ऐसी तीन घटनाएँ एक साथ घट गई जिससे बिहार कटघरे में आ गया – एक यह कि महाराष्ट्र में शिवसेना परिवार ने मुम्बई में बसे बिहारियों के खिलाफ जमकर मोर्चा खोल दिया। दूसरे दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने उसी समय यह कह दिया कि 'दिल्ली की फुटपाथों पर बिहार से आए लोगों ने कब्जा कर लिया है और उसे गंदा कर दिया है।' तीसरे उसी समय गोहाटी जाती हुई ट्रेन में एक असमी छात्रा पर बलात्कार हो गया और ऐसा करने वाले नौजवान बिहार के थे। पहले ही असम में जीवट, मेहनतकश बिहारियों की अपने धंधे में सफलता और कुछ उनके लटपुन हरकत से वहाँ की स्थानीय जनता में क्रोध की आग दहक रही थी उसमें ट्रेन में हुई इस पाश्विक घटना ने आग में घी का काम किया और पूर्वांचल में जो भी हिंदी बोलता पाया उनकी जमकर धुनाई शुरु हो गई। इस बहाने उनकी संपत्ति छीनकर उन्हें बेदखल करने की निरंतर कोशिश आज भी जारी है। यद्यपि ये तीनों घटनाएँ लेखक की यात्रा के बाद घटी हैं पर बाहरी और बिहारी के प्रति असंतोष वहाँ पहले से रहा। इनमें हिंदी बोलने वालों में बिहारी ही सबसे अधिक प्रभावित हो रहे हैं। वहाँ फुटकर धंधा करने वाले बिहारी, मारवाड़ी को जान बचाने के लिए अंग्रेजी बोलनी पड़ रही है। लेखक के शब्दों में इस तरह 'सामने की बर्थ पर बारह-पंद्रह एयरबैगों, पालीथिनों से घिरी सहुआइन बैठी थी। उनकी बर्मा की सीमा पर भारत के आखिरी कस्बे मोरे में परचून की दुकान

थी। सरकारी स्कूल में पढ़ने वाली उनकी आठ और ग्यारह साल की लड़कियाँ एक दूसरे को 'मैन' कहती हैं। वे निराली अंग्रेजी बोलती हैं 'मम्मा गेभ में ओनली तीन टाका टू टेक झालमूड़ी।' इस निराली अंग्रेजी का अविष्कार उन्होंने जीवित रहने के लिए किया है।

गोहाटी की सड़क पर कभी रोते तो कभी हुकार भरते एक नशे में धुत बिहारी अपनी फटी आवाज में चिल्ला रहा था "ये साला असमिया लोग कौन सा यहाँ का रहने वाला है। ये सब बर्मा से आया है। जब हम इनको पटना मेडिकल कॉलेज से भगाएगा, तब क्या होगा?" और वह फिर चिल्लाया "कोई किसी को नहीं भगा सकता। सब आपस में कट कर मर जाएगा। असमिया कहता है पहले बंगाली ने दबाया अब बिहारी दबा रहा है। बोडो कहता है कि असमिया हमको दबाता है। बोडो के खिलाफ राभा है, राभा के खिलाफ मिरी, मिरी के खिलाफ टिवा और टिवा के खिलाफ दिमाचा बोलता है। सब एक दूसरे से लड़ने को तैयार है। कौन किसको भगाएगा?" नशेड़ी भंगेड़ी आदमी त्रिकालदर्शी हो उठता है। उसकी टिप्पणी का एक वाक्य भविष्य की वाणी बन गया और अभी एस.एम.एस में संदेशों से आतंक खड़े करने के बाद बंगलोर में अध्ययनरत पूर्वांचल के छात्रों को सुरक्षा देने की बात उठी थी।

यह पूर्वोत्तर की राष्ट्रीयताओं और जनजातीय संस्कृतियों के संघर्ष की सच्ची तस्वीर है। हर प्रमुख आदिवासी जाति के पास अपना एक उग्रवादी संगठन है जो अलग देश के लिए लड़ रहा है और एक साहित्य सभा है जो अपनी लिपि विकसित करने के काम में लगी हुई है। मार जनजाति की आबादी सिर्फ तीस हजार है लेकिन वे भी असम और दिल्ली के उपनिवेशवाद के खिलाफ लड़ रहे हैं। अफसर कहते हैं कि वे एक जिला बनाने भर भी नहीं हैं... लेकिन किसी की मुंडी काटकर झुलाते हुए नागालैंड का आदिवासी अंग्रेजी में बोलता है 'डेलही इज अवर स्टेप मदर'।

'नागा' शब्द नागालैंड की किसी बोली में नहीं है। यह नाम उन्हें बाहरी लोगों ने दिया जिसका वास्तविक अर्थ केवल अनुमान की बातें हैं। संभव हो यह निर्वस्त्र रहने या नंगा होने से बना शब्द हो। नागालैंड के आदिवासी अचानक दिख जाने वाले हाथी पर गंडासा और छूरे लेकर टूट पड़ते

हैं और मात्र आधा घंटे में हाथी गायब। किसी रुमाल की तरह हाथी का केवल कान ही घटना स्थल पर मिलता है। पढ़ी लिखी नागा महिला कहती है 'यू नो... इलेफेंट का मीट कितना टेस्टी होता है।' जबकि बाजार से स्वाद गायब है। बाजार में मिलने वाली चीजों का यह हाल है कि टूथपेस्ट, बिस्किट सब खड़िया की तरह मिलते हैं जिन्हें चबा चबा कर उपयोग में लाना होता है। यहाँ चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी अपने वेतन का १० प्रतिशत, ग्रेड-२ कर्मचारी २० प्रतिशत और ग्रेड-१ सेवाओं के अफसर न्यूनतम ३० प्रतिशत टैक्स के रूप में उग्रवादियों को देते हैं। साथ ही अंडरग्राउंड के प्रतिनिधि होने का स्वॉग करने वाले लफंगों की वसूली अलग चलती है। एक बुजुर्ग समाजसेवी बताते हैं कि "नागाओं की तमन्ना अब भी एक स्वाधीन देश की है लेकिन वे अंधेरे दौर से गुजर रहे हैं और आपस में बंटे हुए हैं।" हर साल गणतंत्र दिवस का झंडा देश के सब प्रान्तों में फहरता है। टी.वी.में पूर्वांचल में झण्डा फहराते मुख्यमंत्रियों को दिखलाया जाता है, उनके सामने होते हैं परेड करती और सलामी देती हुई पुलिस और पीछे मंत्रियों के अंगरक्षक... राज्य की जनता नदारद होती है। वे लोग भी शामिल नहीं होते जिन्हें उनकी उपलब्धियों के लिए सम्मानित होने को आमंत्रित किया जाता है। नागालैंड हमारे देश का एकमात्र प्रदेश है जिसकी राजभाषा अंग्रेजी है। अब केन्द्र सरकार ने नागालैंड को अपना अलग पासपोर्ट जारी करने का अधिकार दे दिया है।

नागालैंड के दो बार मुख्यमंत्री रह चुके वीजौल की पत्नी की नजर में जेपी (जयप्रकाश नारायण) अकेले भारतीय नेता थे जिन्हें नागा समस्या की समझ थी। नागा समस्या हल करने के नाम पर अपने पूर्वाग्रहों के खेल खेलने वाले दिल्ली के अफसरों के बारे में उनकी राय बेहद खराब थी जिसके वे खुद भुक्तभोगी रह चुके थे। देश के सारे हिस्सों ने दूसरे विश्वयुद्ध का केवल नाम सुना है लेकिन नागालैंड ने द्वितीय विश्वयुद्ध को भोगा है। यहाँ आज भी युद्ध में लड़े गए लड़ाकू विमानों और तोपों के अवशेष लोगों के ड्राइंगरूमों की शोभा बढ़ा रहे हैं।

देश के सभी पहाड़ी इलाकों ने दशकों पहले ही पृथक्तावाद का शंखनाद कर दिया था। चाहें वह कश्मीर

हो पूर्वांचल। गोरखालैंड हो या बोडोलैंड, बस्तर हो या सरगुजा हर तरफ अलगाववाद ने आतंकवाद और नक्सलवाद का रूप ले लिया है। उत्तरांचल और झारखण्ड अपने उत्पातों से अलगाए गए... और इनमें भी सबसे हिंसक, आक्रामक और पुराने उग्रवादी आंदोलन पूर्वांचल के हैं। अल्फा, उल्फा, सुल्फा जैसे नामों के अलावा ऐसे दर्जनों उग्रवादी संगठनों के अंग्रेजी ब्रीफ मिल जाएंगे जिनके फूलफार्म को याद रख पाना भी मुश्किल है। बांग्लादेशी घुसपैठियों के अतिरिक्त इसके सीमावर्ती देशों की जलती धधकती समस्याएँ अलग हैं। प्रकृति का प्रकोप भी यहाँ के मानवीय आंदोलनों से अधिक अमावनीय है। भारत शासन के आपदा प्रबंधन की सभी योजनाएँ और दूरदर्शिता यहाँ आकर पंगु हो जाती हैं। कहीं से पकड़ें और कहीं से उठाएँ। राज्य की स्वतंत्रता स्वायत्तता की मांग के नाम पर जो संगठन बनाए गए थे वे सब बनियों की दुकान निकलीं और टैक्स के नाम पर हफ्ता वसूली करने, डखारों (मेघालय की बोली में बाहरी लोगों के लिए प्रयुक्त शब्द) की सम्पत्ति लूट लेने और मारने-पीटने पर आमादा हैं जिनकी पराकाष्ठा राज्य में समानांतर सत्ता चलाने और चाय बगानों पर अपनी प्रभुता बनाए रखने तक आ खड़ी होती है। एक दक्षिण भारतीय पैदाइशी पत्रकार बताता है कि 'इन्टरनेट पर अल्फा का वेबसाइट खुला है। जाओ परेश बरुआ से चैट करो। उसको जब तुम लोगों से मिलना होगा तो तरीका यह है कि जहाँ भी रहोगे उठा लिए जाओगे। बात हो जाएगी।'

असगर वजाहत की यात्रा में क्रिकेट को संस्कृत माध्यम से खेलते हुए एक गाँव का चित्र है यहाँ अनिल यादव ने क्रिकेट खेलते गाँव की हिंसक-आध्यात्मिक भाषा का रोचक चित्रण किया है "मठ के पिछवाड़े चुटियाधारी साधु नंगे बदन क्रिकेट खेल रहे थे। महिषासुर के फरसे जैसा विकारल बैट उन्होंने खुद गढ़ा था। बॉस के विकेट थे। पैड पुआल को कलात्मक ढंग से बुनकर बनाए गए थे इसलिए एलबीडबल्यू भी रहा होगा। खेत के गड्डों और धान की खूंटियों पर पड़ने के बाद कार्क की कौन सी गेंद बाउंडर, कौन सी यार्कर हो जाएगी अनुमान लगा पाना असंभव था। इस अनिश्चितता ने खेल को आध्यात्मिक रंग दे दिया था। जरा देर पहले कैच आउट हो कर बाउंड्री पर पालथी मारे

गुमसुम बैठे कमलाकांत सैकिया से शाश्वत ने कहा, "साधु जी जब इतना इंतजाम कर लिया है तो एक पिच भी क्यों नहीं बना लेते।"

"अतिथि, आदमी जिंदगी में कितने रंग बनाएगा और कैसे आउट होगा यह पहले से निर्धारित होता है।" उस खिलाड़ी ने निर्लिप्त भाव से कहा।

वर्ष १९८५ में मिजोरम को अलग राज्य बनाना पड़ा। प्रधानमंत्री राजीव गांधी के साथ समझौते के बाद लालडेंगा को कांग्रेस का मुख्यमंत्री हटाकर मुख्यमंत्री बनाना पड़ा। यहाँ सी.एम. (मुख्यमंत्री) को 'सियेम' यानी सी.ई.एम (चीफ एक्जीक्यूटिव मेम्बर) कहते हैं। मिजोरम पर असगर वजाहत का वृत्तांत भी है 'म्याँमार और बांग्ला देश के बीच' - वे इस राज्य के साथ एक यह भी दुर्भाग्य बताते हैं कि भारत को पहली बार अपनी जनता के उपर बमबारी करनी पड़ी थी। ४ मार्च १९६६ को भारतीय वायुसेना के जेट फाइटर्स ने इसकी राजधानी आइजोल पर एयर अटैक किया था। कारण यह कि मिजो नेता लालडेंगा के नेतृत्व में मेजोरम ने अपने को स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया था। दो दिनों तक हुई बमबारी में पूरा शहर ध्वस्त हो गया था। पूर्वोत्तर राज्यों के प्रति केंद्र की नीतियाँ ठीक नहीं रही हैं। इस पर अनिल यादव लिखते हैं कि 'गाँवों का सामुदायिक जीवन सेना नष्ट कर चुकी थी। अपराध बेतहाशा बढ़े और आधा मिजोरम उजड़कर तीन शहरों में बस गया। मिजोरम में उग्रवादियों समेत हर आदमी को किसी न किसी प्रकार की क्षति का मुआवजा दिया गया जिसके नतीजे में भ्रष्टाचार मिजोरम का पर्याय बन गया है। अब यहाँ की राजधानी आईजोल को भारत का सबसे महंगा शहर माना जाता है जहाँ नशेड़ियों की तादाद बहुत ज्यादा है।'

मेघालय में बाहरी आदमी को 'डखार' कहा जाता है। शिलांग के बस स्टेण्ड में उतरने वाले मुसाफिर को वे पूछ लेते हैं "तुम डखार हो!" वे हमेशा आशंकित होते हैं कि आगन्तुक यहाँ बस न जावे। शिलांग की सड़कों पर गोलियों से छिदी लाशें मिलना और किसी प्रतिक्रिया का न होना यहाँ की दिनचर्या में शामिल था। मेघालय का ड्रायवर यहाँ के गाँव मावलाई के बारे में मानते हैं कि "भले ब्लेडर फट जाए ड्राइवर मावलाई में पेशाब नहीं करता, उतनी देर में

गाड़ी गायब हो जाती है। इधर प्रकृति का उग्रवाद कुछ इस तरह से है कि एक तरफ ब्रह्मपुत्र की बाढ़ से भयंकर विनाश है तो दूसरी ओर चेरापूँजी से पीने का पानी गायब है। जो लोग चेरापूँजी को छपाछप समझकर जाड़े के दिनों में यहाँ आते हैं वे देखते हैं कि लोग पाँच लीटर का कनस्टर लेकर अपनी गृहस्थी सूखने से बचाने के लिए दूरदराज से पानी ढोकर लाते हैं।

अरुणाचल आने पर सेना की वर्दियों का हरापन सघन हो जाता है। १९६२ में चीन से पराजय के बाद चौकन्नापन स्थायी हो गया है। हर नाके पर परमिट दिखाते पृष्ठताल का जवाब देते रात हो आती है। अरुणाचल में साठ से अधिक आदिवासी जातियाँ हैं और करीब पचास से अधिक ज्ञात भाषाएँ हैं। तिब्बत के ल्हासा के बाद अरुणाचल का 'तवांग' दुनिया में दूसरे नंबर का सर्वाधिक प्राचीन महायान मठ है जिसे १७वीं सदी में स्थापित किया गया है। बहुत दिनों नहीं हुए यहाँ टैक्स वसूलने तिब्बत के संग्राहक आया करते थे। चीन के लिए तवांग उत्तरी तिब्बत है और इसीलिए इसे अपना आधिपत्य जमाने के लिए इसे भारत का हिस्सा मानने से विरोध करता है। एक चीवरधारी लामा कहता है 'इस बार बौद्ध महोत्सव में गाने के लिए जसपिन्दर नरुला को बुलाया जा रहा है। उदित नारायण गाकर जा चुका हैं। कोयला की शूटिंग में शाहरुख खान और माधुरी दीक्षित भी आ चुके हैं।' लेखक ने उससे पूछा कि 'पूजा में देसी दारु की जगह मल्टीनेशनल पेप्सी क्यों चढ़ाया जाने लगा तो उसने आंख मार कर जवाब दिया 'बुद्धिज्म भी तो मल्टीनेशनल धर्म है, हर्ज क्या है!'

उठता हुआ चाँद, बसंती हवा, नाइट बस में खिड़की से लगी सीट, बीसियों अजनबी बोलियों में खोते अंततः गतिविधियों में पकड़ आते जीवन के उलझे धागे, भागती पहाड़ियाँ, बगल की सीट पर पेंजरे में खरगोश लिए घर लौटता नागा फौजी... एक घुमंतू को और क्या चाहिए! थोड़ा सा अनिश्चय, थोड़ा सा भय, थोड़ा सा रोमांच ...वह भी था। किसी भूमिगत जीवन की तस्वीर...जो कहीं नजर नहीं आता लेकिन सब कुछ को नियंत्रित करता है। यह मणिपुर है - जखाला बंधा पर आधी रात गए किशोरियों के झुंड कस्टमर पटा रहे थे। अगल बगल उनके शिशु भाई बहन भी थे। कोई

कस्टमर मिल जाता तब वे बस स्टैंड के होटलों के पिछवाड़े चली जातीं जहाँ से हँसी, घुटी आवाजों, सौदेबाजी और मारपीट में वे खुद होटल बन जाती थीं जो कस्टमरों की भूख मिटा पाने में असमर्थ थे। इसी हाईवे पर काजीरंगा नेशनल पार्क था। गहन हरियाली के बीच चाँदनी के फीके चूरे में भीगा कस्टमर एक सींग वाला विश्वविख्यात गैंडा था, लड़कियाँ चारा थीं।

मणिपुर का वैष्णव जबरन विलय और दिल्ली की हेकड़ी प्रतिक्रिया में जीता है। यहाँ के महाराजा ने १९४७ को भारत का हिस्सा होने के समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। वह चीन, बर्मा और पूर्वी भारत में कम्युनिस्ट उभार का जमाना भी था, मणिपुर हाथ से निकल सकता था। मणिपुर में बहुत से लोगों के नाम लेनिन और माओ हैं। कहते हैं पोतो का अविष्कार इसी घाटी के घुड़सवारों ने किया था जो यहाँ का राजकीय खेल है। मणिपुर पूर्वोत्तर में सबसे पुरातन देश है जिसकी ऐतिहासिक बही में चौहत्तर मैतेई राजाओं की वंशावली है। यह ईसापूर्व के पाखंबा के शासन का ब्यौरा है। खेलों के प्रति मैतेई लगाव गहरा है। १९९४ में पैसे की कमी के बहाने यहाँ की एक टीम १२वें एशियाई खेलों में हिरोशिमा नहीं भेजी गई थी जिसके विरोध में मणिपुर बंद रहा था। इस टीम के सभी खिलाड़ी मणिपुर के थे। अब स्थिति यह है कि शाम तीन बजे तक इम्फाल की सड़कों पर सन्नाटा फैलने लगता था। शराब पीने, हिंदी बोलने, हिंदी फिल्मों और गानों पर उग्रवादियों की पाबंदी थी। मुह बांधकर रिकशा चलाना इम्फाल के पुराने फैशनों में से एक था जिसकी शुरुआत उच्च शिक्षा प्राप्त लड़कों ने शर्म ढकने के लिए दो दशक पहले की थी। शराब में पाबंदी उग्रवादियों ने इसलिए लगवाई है कि उन्हें इसे ब्लैक में बेचने का मौका मिलता है।

विकास बनाम पर्यावरण के नाम पर अलग घालमेल है। मणिपुर में 'सान्गाई' हिरन की दुर्लभ प्रजाति मात्र दहाई संख्या में बची है जो बिजली पैदा करने के लिए बनाए लोकताक झील में डूबकर मर जाता है। मणिपुर सरकार दुनिया के पर्यटकों को बुलाने के लिए लोकताक की मार्केटिंग कर रही थी। एक बूढ़ा मल्लुआरा कहता है कि "हिरन अफसरों की कारस्तानी से भूखों मर रहे हैं। पहले इन

झीलों के आसपास घास होती थी तब हिरन होते थे। अब प्रोजेक्ट चलाने के लिए ज्यादा पानी छोड़ने के कारण घास उगने की जगह बची नहीं। घास नहीं मिलने पर हिरन भागने की कोशिश करते हैं और पानी में डूबकर मर जाते हैं। अब या तो बत्ती जला लो या हिरन देख लो।” बस में बैठी एक लड़की ने कहा कि “हिरन से ज्यादा तो एनजीओ .हो गए हैं। कुछ दिन बाद हिरन नहीं रहेगा सिर्फ एनजीओ बचेंगे।”

पूर्वोत्तर में एड्स महामारी बन चुका है। लेखक कहते हैं कि ‘उसी दिन मैं एक एनजीओ के दफ्तर में एल.दीपकसिंह से मिला था जो मेरे जीवन का पहला ऐसा आदमी था जिसने खुद को एड्सग्रस्त होना स्वीकार किया था। उसने अपने साथ चूड़ाचौदपुर ले चलने को कहा था जहाँ लाइलाज नशेड़ियों को जंजीरों से बांध कर रखा जाता है।’

त्रिपुरा के जंगलों में आदिवासी राजाओं के भव्य महल उपेक्षित खड़े हैं, यहाँ की आबादी में आदिवासी आजादी के वक्त तक ७५ प्रतिशत थे जो अब अल्पसंख्यक हो चुके हैं। खेती की जमीनें, जंगल, राजनीति, प्रशासन कई किस्तों में बाढ़ की तरह आए बांग्लादेश के हिंदू शरणार्थियों के हाथ जा चुके हैं। काक बरोक भाषा और आमार सोनार बांग्ला की आर्य छाप हावी हो गई है। आदिवासियों के उग्रवादी संगठन अपना हक वापस पाने के लिए लड़ रहे हैं, बंगालियों के उग्रवादी संगठन और आनंदगमार्गी उनका मुकाबला कर रहे हैं। बांग्लादेश से हिंदू शरणार्थियों का आखिरी रेला १९९२ में अयोध्या में बाबरी मस्जिद गिरने के बाद आया था।

उग्रवादी ऐसे भी हैं जो अपने बच्चों को जंगल से दूर भारत के अच्छे स्कूलों में पढ़ाकर सुरक्षित भविष्य देना चाहते हैं। भारत सरकार और ऐसे संगठनों के बीच एक अघोषित समझौता भी हुआ है।

शिलांग- पब्लिक रिसीडियल स्कूलों का पूर्वांचल का सबसे बड़ा केन्द्र है जहाँ बच्चों को अपना कैरियर बनाने का अवसर मिलता है। उग्रवाद की समस्या सुलझाने में लगे अफसर यह दावा बड़े विश्वास से करते हैं, आराम की जिंदगी, अच्छी शिक्षा, अच्छे भविष्य के आश्वासन की लत लगने के बाद ये नागा तथा अन्य जनजाति के युवा जंगलों में कभी नहीं जाएंगे।

अनिल यादव का यह पूरा बयान सप्तबहना यानी सेवन-सिस्टर्स कहे जाने वाले सात प्रांतों के सत्य को उद्घाटित करने का सिलसिलेवार वृत्तान्त है। हर राज्य को पाने, हथियाने, कब्जा करने या उस पर अपना आधिपत्य बतलाने की व्यथा कथा है। उनका सांस्कृतिक, भौगोलिक इतिहास है। कबीलों की कथा और किवंदतियाँ हैं। क्षेत्र की समस्याओं को लेकर तथ्य जुटाने की कोशिश में कितने ही मंत्रियों मुख्यमंत्रियों और उनके सचिवालयों और प्रशासनिक भवनों में घुसने की कवायद है। कबीलाई जीवन और उनकी मान्यताओं परम्पराओं की रहस्यमय दुनियाँ को उघाड़ने और उनमें सेंध मारने का दुस्साहस है। अनेकों बार सड़क छाप होटलों और सुविधाविहीन गेस्टहाउसों की जर्जर व्यवस्था में रहकर हाड़ केंपाने वाली ठण्ड को कभी हिप फ्लास्क में बचे स्थानीय पेय ‘चुलाई मद’ के जरिये झेलने का उनका साहसिक उपक्रम है। अराजकताओं का चित्रण करने के लिए लेखक को भी कितना अराजक और दुस्साहसी होना पड़ता है उसका एक जीवंत साक्ष्य है उनका यह यात्रा वृत्त ‘वह भी कोई देस है महाराज।’

तीनों यात्रा वृत्तान्तों के प्रकाशक:

अंतिका प्रकाशक, सी-५६/यूजीएफ-ए, शालीमारगार्डन,
एक्सटेंशन-प्यू, गाजियाबाद-२०१००५ (उ.प्र.)

मो. ०९८७१८५६०५३

संपर्क: मुक्तकनगर, दुर्ग 491001

मो. 9009884014

प्रो. नित्यानंद तिवारी यानि जीनियस की मौलिकता का विमान और हिंदी संसार शशिभूषण द्विवेदी

प्रो. नित्यानंद तिवारी की ओलाचना गझिन ढंग से मौलिक है, और उसमें साहित्य के इतर अनुशासनों की ऐसी स्वीकार्य-आवाजाही है कि उसके विमान को एकदम से गणितीय अंदाज में पकड़ पाना, या उसके लिए कोई व्याकरण निश्चित करना लोहे के चना चबाना है, और लेखन में भी बहुत महत्वपूर्ण रूप से निरंतर मौलिक होते रहने वाले दिल्ली विश्वविद्यालय के इस भूतपूर्व प्रोफेसर-विभागाध्यक्ष के चिंतन का संसार इतना सर्वग्राही है कि उसमें से न सिर्फ साहित्य को बल्कि ज्ञान के दूसरे अनुशासनों को समझने की एक साहित्यिक दृष्टि भी विकसित की जा सकती है, जो इस बात का पुख्ता प्रमाण हो सकती है कि 'जीनियस' जितना बहुआयामी होता है उतना ही 'आर्गुमेंटेटिव' (याद करें अमर्त्य सेन की किताब 'द आर्गुमेंटेटिव इंडियन'), और दोनों के मेल से जो मौलिकता उत्सर्जित होती है, वह अंततोगत्वा जीनियस को सिद्धांतकार या थिअरीटिशियन की श्रेणी तक ले जा सकती है, हालांकि इन सारी अद्भुत विशेषताओं की मौलिकता के बावजूद उनकी किताबों की समीक्षा उन पत्र-पत्रिकाओं में भी नहीं हुई जिसे कई 'मित्र लोग' संपादित करते आ रहे हैं!!

कहा जा सकता है और बहुत पढ़ाकू लोग यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पढ़ाई अगर ठीक से पच जाए तो मौलिकता लगने लगती है; लेकिन तब तक एक खतरा बना रहता है कि वह बहकने न लगे; लेकिन जो लोग पढ़ाई को आत्मसात कर लेते हैं उनके साथ यह खतरा नहीं होता है। प्रो. तिवारी इसी श्रेणी के मौलिक जीनियस हैं और यही वजह है कि वे चाहे विनिर्मियों की जटिलता पर बात करें या पढ़ने के तरीके या पाठक की आवश्यकता पर टिप्पणी, या फिर लोहिया के संदर्भ से हिंदी आलोचना की बात करें, या दलित लेखक अभय मौर्य के उपन्यास 'मुक्तिपथ' पर बहस में भाग लें; सबमें पाठक-श्रोता को कुछ ऐसा मिल जाता है जो दूसरी जगह नहीं मिलता है, या दूसरे आलोचकों-कृतिकारों से नहीं मिला होता है। यही वजह है कि उनका एक-एक शब्द- हालांकि वह साहित्य या ज्ञान के दूसरे अनुशासनों गणित, समाजशास्त्र या इतिहास का होता है - नएपन का आभास देता है और जब वे कहते हैं कि "रामचरित मानस इन्सपायर करता है, जबकि पद्मावत 'एक्साइट' करता है"; तो उनकी मौलिकता पर किसी वादी-विवादी तर्क-कुतर्क की गुंजाइश नहीं रह जाती। उनकी ताजा नई किताब 'मध्यकालीन साहित्य: पुनरावलोकन' तो जैसे मेरे ऊपर की बातों की पराकाष्ठा की गवाह है।

प्रो. तिवारी डॉ. रामविलास शर्मा के बाद (उनके यहाँ राजनीति-विज्ञान गहराई से साहित्य का अंश बना है) एक ऐसे विमर्शकार हैं जिनके चिंतन के केन्द्रक में इतिहास, समाजशास्त्र और भौतिकी से गणित तक का चौड़ा विमान है; हालांकि ये अनुशासन उनके यहाँ भौतिक रूप में उस तरह उपस्थिति दर्ज नहीं कराते जैसे दिन, तारीख, इस्वी- सन् के साथ इतिहास आदि करते हैं। प्रो. तिवारी के चिंतन लेखन में इनकी एक कौंध आती है और साहित्य की मदद करके विदा हो जाती है और फिर प्रो. तिवारी का साहित्य अपनी उदारता से इन अनुशासनों से उतना ही लेता है जितने से उसका काम चल जाय; लेकिन वह प्रो. तिवारी के पाठक श्रोता को यह आभास भी दिला देता है कि साहित्य पढ़ते समय आप अपना नाक-कान-गला-दिमाग सब साफ भी रखें, अपनी उदारता भी न छोड़ें और लेखक की बौद्धिक भद्रता का

साथ देते हुए उसके साथ अपनी क्षमतानुसार बहें, शायद यही कारण है कि प्रो. तिवारी को पढ़ते समझते समय दिमाग की नसें तड़तड़ा जाती हैं। वे गहन तैयारी और बढ़िया से अपना गृह कार्य किए हुए पाठकों-रसिकों के विमर्शकार हैं और हिंदी की मीडियाँकरी शायद इसीलिए उनकी चर्चा से बचती रही है। लेकिन यह समय है कि हिंदी की आलोचना अपने पापों का प्रायश्चित्त करे और उन्हें नए सिरे से समझने की उदारता दिखाए।

प्रो. तिवारी जो इस वर्ष आठ अप्रैल को अठहत्तर वर्ष के हो गए- ने 'आधुनिक-साहित्य और इतिहास-बोध', 'सृजनशीलता का संकट', 'प्रसंग और आलोचना' जैसी अपनी किताबों में इतिहास, समाजशास्त्र और साहित्य का एक ऐसा को-रिलेशन विकसित किया है जिसमें 'स्मृति' (यह निर्मल वर्मा का भी प्यारा शब्द है) की प्रतिध्वनि समय के साथ चलती है और साहित्य की समझ का नया पाठ हमारे सामने रखते हुए जो 'पाठेतर' है उससे परिचित कराकर हमारा संस्कार बनाती है और संस्कृति की मौलिकता में पैठने का रास्ता साफ करती है। अंग्रेजी आलोचकों, चिंतकों, इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों से ली गई उनकी मदद साहित्य में एक भारतीय संदर्भ विकसित करने भर के लिए होती है और प्रो. तिवारी के यहाँ यह 'बॉरोइंग' हिंदी का मौलिक अंश बनकर शाश्वत हो जाती है। प्रसंग (Context), संदर्भ (reference), टेक्सट, सापेक्षता, मौलिकता आदि शब्द उनके यहाँ रूढ़ अर्थों में नहीं आते; बल्कि वे इतने उदार ढंग से चिन्हित होते हैं कि उन्हें जैसे चाहे वैसे 'deconstruct' किया जा सकता है। उनके यहाँ 'प्राचीन' जब आधुनिक से मिलता है तो संस्कृत-साहित्य के 'भावक' की भूमिका में आ जाता है और 'माँ निषाद् प्रतिष्ठाम्'... की व्याख्या करते समय (Concern) को (Involvement) की तरह व्याख्यायित करते हुए कहता है "जब तक कन्सर्न इन्वाल्वमेंट नहीं बनेगा तब तक मौलिकता नहीं आयेगी। वाल्मीकि इसीलिए मौलिक हैं कि वे क्रौंच की मृत्यु के दुःख में भावक की भूमिका में हैं; यानि वही दुःख उनका अपना होकर उन्हें मौलिक बनाता है और वे आदिकवि कहलाने लगते हैं।"

उन्होंने राजेश जोशी, रघुवीर सहाय, उद्रभांत, जयशंकर

प्रसाद, मुक्तिबोध, अज्ञेय, निर्मल वर्मा, भीष्म साहनी आदि पर अगर सकारात्मक और स्वीकार्य टिप्पणियाँ की हैं; तो कुछ लोगों को 'धोया' और 'भस्मीभूत' भी किया है और कुछ लोगों को पूरी तरह से 'रिजेक्ट' भी किया है; लेकिन किताबों में रामचरित मानस, मैला आंचल, गोदान आदि उनके अहर्निश सहचर भी हैं और 'आदिकाल' या 'मध्यकाल' का साहित्य उन्हें ऐसे जकड़े रहता है कि वे उसके रसिया लगते हैं। आईये इन्हीं संदर्भों के साथ उनकी ताजा किताब 'मध्यकालीन साहित्य : पुनरावलोकन' पर एक नजर डाली जाय। इस किताब को प्रो. तिवारी के उस विषय पर मौलिक सोच की पराकाष्ठा की तरह भी पढ़ा-समझा जा सकता है, किताब २०१५ में छपी है।

इस किताब की कई विशेषताओं में एक जो मुझे लगी है- यह है कि इसमें प्रो. तिवारी के मन में कुछ लोग (नागार्जुन, रघुवीर सहाय, राजेश जोशी आदि) समय-साहित्य के कुछ कालखंड (मध्यकाल, रीतिकाल, आधुनिकता, उत्तरआधुनिकता) और इससे जुड़े आनुषंगिक प्रसंग (मीडिया, विज्ञान, ग्लोबलाइजेशन आदि), कुछ किताबें (मैला आंचल, गोदान, द डार्क एजेज, नीत्ये का चिंतन) कुछ आलोचक (रामचंद्र शुक्ल, रामविलास शर्मा, हजारी प्रसाद द्विवेदी, कॉडवेल, हैरी इगल्टन आदि) एकदम प्रसंगानुकूलन स्थान पाए हुए हैं। लेकिन सबसे बड़ी बात यह जो हर मौलिक व्यक्ति की पहचान होती है- कि सारी किताब में हर अध्याय कुछ बड़े प्रश्नों से 'लड़' और 'टकरा' (ये दोनों प्रो. तिवारी के प्रिय शब्द हैं) रहे हैं और प्रो. तिवारी का ऑब्जोसन बने हुए हैं, यानि न तो ये सवाल उन्हें छोड़ रहे हैं और न वे प्रश्नों से छुटकारा पा रहे हैं। जाहिर सी बात है कि अगर प्रश्न नहीं होंगे तो डब्ल्यू बी. यीट्स का 'सभ्यता को आगे ले जाने का क्रम- यानि (Progress of the advancement of civilization) रुक जाएगा और चिंतन का वह भाग, जो मौलिक बनाता जाता है, कहीं से बर्फ की तरह जमता हुआ प्रतीत होने लगेगा। शायद यही वजह है कि जैनेन्द्र जी की एक किताब का नाम ही 'प्रश्न और प्रश्न' है; यानि उत्तर और प्रश्न में से भी प्रश्न हो सकते हैं और उनका उत्तर बिल्कुल नया होकर 'फंक्शनल' (अंग्रेजों के आधुनिक कवि लुईस

मैकनीस के शब्द जो उन्होंने इट्स पर लिखते हुए व्यक्त किए हैं) जब होगा तो सामाजिक-साहित्यिक दृष्टि से मौलिक हो जाएगा। प्रो. तिवारी इस किताब की भूमिका में ही लिखते हैं, 'भक्तिकाल में इतिहास अनेक गहरे उद्वेलनों और समस्याओं से आंदोलित है। वह अनेक स्तरों और आयामों में सृजनशील हो उठा है। उसने (इतिहास ने) एजेण्डा प्रस्तावित किया है। यही इतिहास की आंतरिकता है?'" इस बड़े सवाल के बाद इसी तारतम्यता में एक और प्रश्न प्रो. तिवारी खड़ा करते हैं, "जब इतिहास किसी काल में एजेण्डा प्रस्तुत नहीं करता तब वह (साहित्य) कथानक-रूढ़ियाँ और भाव-रूढ़ियों में फंसा रहता है। इसी को ध्यान में रखते हुए रामचंद्र शुक्ल ने संभवतः रीतिकाल के लिए कहा था कि उसमें मौलिकता का अभाव है। क्या मौलिकता इतिहास-सापेक्ष धारणा है?'" वे इस किताब की सफाई में आगे लिखते हैं, "इस पुस्तक में हो सकता है ऐसे विवाद-बिंदु मिलें।"

अब अगर इन उदाहरणों को ही ठीक से समझ लिया जाय, यानि प्रो. तिवारी जिसे राजेश जोशी और रघुवीर सहाय के बारे में "समझ के कई स्तर" कहते हैं; उसे इस पर लागू किया जाय; तो डॉ. तिवारी की आलोचनात्मक ऊर्जा और उनके विश्लेषात्मक जीनियस के कई स्तर सामने आएँगे! पहला स्तर तो इतिहास, समय आदि की उन बुनियादी मान्यताओं से निःसृत होगा जो सामने के तथ्यों को गणित यानि 'सापेक्ष' से मिलाकर साहित्य को समझने के कई स्तरों का निर्माण करता है और जिज्ञासु को प्रश्नानुकूल करके अर्जुन जैसा बना देता है, ताकि वह अपने काम में तभी प्रवृत्त हो जब उसकी शंकाओं का समाधान कोई कृष्ण कर दे, यानि आदमी का अंतः जब समाधान किया जाय तो महाभारत चाहे कुरुक्षेत्र का हो या साहित्य का; सबको जीता जा सकता है। प्रो. तिवारी जैसे जीनियस को हिंदी आलोचना के अभागे मन का शिकार नहीं होना चाहिए! उन पर एक सिद्धांतकार की तरह बात हो; यह किताब इस तथ्य का खुलासा भी है।

इस किताब में पाठ यानि टेक्स्ट, समय-साहित्य के ढांचे, बेचैनी, मोर्चा, आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता, निरंतरता, टूट आदि शब्द बार-बार 'विनिर्मित' होते हैं और इसके

आठ अध्याय पूरी तरह भक्तिकाल और रीतिकाल को बिल्कुल आज के नजरिए से देखते हुए दृश्य, बिंब और गाथा; यानि हमारे क्लासिकी के विभिन्न शाश्वत श्रोतों तक जाते हैं; और प्रसंग चाहे राम के वनगमन का हो, या पद्मावत का 'सुआ-संवाद-खंड' हो, सबसे अपने समय की व्याख्या के कुछ सूत्र खोज लाते हैं; जो सूत्र हमारे समय की जटिलताओं को समझने का 'टेक्स्ट' बन जाते हैं; यानि प्रो. तिवारी के शब्दों में, "मध्ययुगीन साहित्य पढ़ते हुए हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि भिन्न समयों के साहित्य के बीच एक निरंतरता या आंतरिक सिलसिला होता है। मध्ययुगीन और आधुनिक साहित्य के बीच भी यह निरंतरता है। और मध्ययुग को पढ़ते हुए इसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। निरंतरता के साथ उसमें टूट हो भी सकती है। यह टूट किन्हीं दूसरी परंपरा या दूसरे उद्देश्यों से संबंधित होने के कारण उत्पन्न हो सकती है। हमें इस टूट को भी ध्यान में रखना चाहिए। एक और बात की इस निरंतरता और टूट को केवल साहित्य के भीतर से ही नहीं, बल्कि अन्य श्रोतों से भी खोजा जाना चाहिए।" इस लंबे उद्धरण से मेरी ऊपर की गयी कई बातों का खुलासा होता है।

इस किताब में प्रो. तिवारी ने मध्यकाल, जिसने संसार के सबसे बड़े कवि तुलसीदास को संसार को दिया, को रसायन विज्ञान के एक शब्द उत्प्रेरक या कॉयलिस्ट की तरह देखा है। उत्प्रेरक का काम किसी भी रासायनिक क्रिया को गति से बढ़ा देने का होता है। यानि मध्यकाल का साहित्य एक ऐसा उत्प्रेरक है जिससे टकराए बिना आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता या साहित्य का कोई भी कालखंड अपनी सार्थकता नहीं पा सकेगा; यानि डॉ. तिवारी ने मध्यकाल को अंगद के पाँव की तरह ऐसा जड़ दिया है कि कई रावण वहाँ पसीने-पसीने होकर पस्त हो जाएँगे। प्रो. तिवारी की व्याख्या वाला मध्यकाल इस किताब में एक स्वीकार्य प्रक्षेपण बन गया है यानि ऐसा प्रोजेक्शन जो साहित्य के हर त्रिभुज या चतुर्भुज की हर भुजा का सहायक है और जिसके बिना किसी त्रिभुज-चतुर्भुज की कोई कल्पना साकार नहीं होगी। यानि उन्हीं के शब्दों में हर युग के साहित्य के व्याख्याकार को मध्यकाल से 'टकराना' ही होगा; प्रो. तिवारी ने तो मध्यकाल से अपने समय के लिए

काफी कुछ ले ही लिया है; एक अद्भुत उदाहरण देखें : “मैं मानस के एक ऐसे प्रसंग को उद्धृत करना चाहता हूँ, और वह प्रसंग संकट का ऐसा बिंदु है जहाँ से तुलसी के मानस की रामकथा आगे बढ़ती है। उस संकट बिंदू के बिना रामकथा का आगे उभारना संभव ही नहीं था। वह प्रसंग है राम का वनवास और दशरथ! कैकेयी ने दो वर माँगे थे। भरत का राज्याभिषेक और राम को चौदह वर्ष का वनवास। पहला वर तो दशरथ देने को तैयार थे। लेकिन दूसरा वर देना उनके लिए उभयतोपाश था जिससे उबरना उनके लिए संभव नहीं था। क्यों नहीं था ? ‘मानस’ के दशरथ तो तुलसी के पात्र हैं और उनके पास विचारधारा थी। वे दशरथ से निर्णय करा सकते थे लेकिन कराया नहीं; दशरथ को मरना ही पड़ा। यहाँ दशरथ विचारधारात्मक चरित्र नहीं हैं। वे विपरीत विचारधारात्मक विनिर्मितियों के चक्रव्यूह या मोर्चे पर हैं। वर देते हैं तो निरपराध पुत्र को दंड देते हैं। उनका न्यायी राजा और पिता का व्यक्तित्व खंडित होता है। नहीं देते हैं तो वचन का पालन न करने वाले एक व्यक्तित्वहीन पुत्र-मोही अस्तित्व की परस्पर विरोधी अवधारणाओं के मोर्चे पर तने हुए हैं। पति, पिता, न्याय-अन्याय की धारणाएँ केवल भावनात्मक संबंध तो नहीं हैं। वे परंपरा, धर्म, नैतिकता, समाज और व्यवहार के अनेक विचारधारात्मक संघातों से मूर्त हुए हैं। वे केवल श्रदेय की विचारधारा से परिभाषित नहीं हैं। अगर ऐसा होता तो तुलसी के दशरथ स्पष्ट निर्णय ले लेते। लेकिन अभूतपूर्व बेचैनी और यातना के साथ उन्हें मरना ही पड़ा।’

हमारे सामाजिक ढाँचे, राजनीति, एक सही आदमी के घुटन दुःखद मरण का तो चित्र प्रो. तिवारी इस प्रसंग से चित्रित करते हैं; वह हमारे समय के कई विंकों, रूपकों असमंजसों आदि का एक कोलॉज बनाता है और हर आने वाले समय के मनुष्य पात्र को सावधान करता है कि सावधानी हटी कि दुर्घटना घटी! इसी व्याख्या को आगे बढ़ाकर प्रो. तिवारी ‘कविता’ मात्र की जड़ और मौलिकता तक पहुँचते हुए कहते हैं; “इसका मतलब कि जो वन की कुछ स्थितियाँ ऐसी मार्मिक और निर्विकल्प होती हैं जहाँ विचारधाएँ और उनमें निहित आस्थाएँ अपर्याप्त हो जाती हैं। उन्हीं अपर्याप्तताओं में कविता होती है।” कविता के

‘होने’ की ऐसी व्याख्या हिंदी में दुर्लभ है और उन्हीं के शब्दों में, “मेरी तो किताबों की समीक्षा भी नहीं हुई कहीं।” लेकिन हिंदी में ऐसा व्यवहार कोई अजूबा नहीं है!!

हिंदी साहित्य के इतिहास में अछूत समझे जाने वाले रीतिकाल पर भी किताब में एक अध्याय है: “रीतिकालीन काव्य का इतिहास: पुनर्विचार की दिशा”। रीतिकाल पर बात करते समय प्रो. तिवारी की मुद्रा एक ऐसे सचेत व्यक्ति की है तो उस काल की बहुत सारी चीजों के प्रति सचेत करता चलता है ताकि रीतिकालीन “संस्कारों का पोषण” न हो; यानि आधुनिक समय में जब अतिआधुनिक पाठकों ने एक विशेष संदर्भ पैदा कर दिया है जिसमें रीतिकालीन और आधुनिक मानसिकताओं का मेल बैठने लगता है; मसलन साहित्य का ‘स्वायत्त-विचार’ पर चर्चा-परिचर्चा जोर पकड़ रहा है तो इन चर्चाओं के बीच हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि रीतिकाल जैसी नायक-नायिकाएँ सब कुछ आधुनिकता के नाम ‘खुल्लम खुल्ला’ न कर दें। या करने लगे। जाहिर सी बात है कि प्रो. तिवारी जैसे मौलिक अध्येता इतने समर्थ जीनियस कतई न होते अगर उनके अध्ययन का दायरा विस्तृत न होता। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से १९६४ में जिस ‘मध्ययुगीन रोमांचक आख्यान’ नामक विषय पर उन्हें डी. फिल. की उपाधि मिली थी, उसके प्राक्कथन का एक अंश भी इस किताब में है। यानि २० वर्ष की उम्र में (जन्म ८ अप्रैल १९३८) लिखी गई इस थिसिस के लिए प्रो. तिवारी ने जिन अठानबे (९८) किताबों को देखा-परखा होगा; वह भी इस कच्ची उम्र का एक रिकार्ड ही है। इन सारी हिंदी, अंग्रेजी और संस्कृत की किताबों की यहाँ चर्चा है। किताबों की इस सूची में इतिहास, मिथक, कविता, लोकगीत, लोककथाएँ, यूरोपीय साहित्य के आख्यान, लोकजीवन के सामाजिक पक्ष आदि को इतिहास, समाजशास्त्र, राजनीति आदि के आनुषंगिक-ज्ञानानुशासनों के संदर्भ, प्रसंग और उनकी आवश्यकता आदि के साथ देखा गया है और कुछ अद्भुत बातें कही गई हैं। कुछ उदाहरण देखें: “साधारणतः रोमांचक आख्यान की परंपरा को वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, अभिज्ञानशाकुंतलम्, कुमारसंभव और कादम्बरी, हर्षचरित, प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी साहित्य में एक अविच्छिन्न धारा

के रूप में विद्वानों ने बताया है। उर्वशी पुरूरुवा के आख्यानों से इसकी परंपरा का प्रारंभ माना जाता है।”

इसीलिए प्रो. तिवारी जैसे लोगों के अवदान पर वाद-विवाद, उजाड़ो-बसाओ और दूसरी क्षुद्रताओं से हटकर, या इन नकारात्मक भावों को मन से हटाकर, शुद्ध प्रजातांत्रिक, लिबरल और उदात्त-भद्रता से बात करने की आवश्यकता है ताकि जो जिसका प्राप्य है वह उसे मिले। “पॉलिटिक्स” ने पिछले साठ-सत्तर वर्षों में कोई जीनियस पैदा नहीं किया और निरंतर अपने को खोखला करती रही। इसीलिए प्रो. तिवारी जैसा कोई जीनियस (निर्मल वर्मा के शब्दों में “आलोचक तो हिंदी में नित्यानंद है”) अगर अनदेखा रह गया तो यह दुहरा पाप हिंदी की मुंडेर पर चढ़कर उसकी नौद उड़ाता रहेगा। हर चीज को समय रहते रक्षित होना चाहिए।

पुनश्चः, मैं उनके संपर्क में १९८४ से हूँ जब मैं १९८४ में एमए में विद्यार्थी था दिल्ली विश्वविद्यालय में। उसी दौरान मुझे देश के बाहर जाना पड़ा। लेकिन उनसे मेरा संपर्क आज भी बना हुआ है और हम लगातार फोन के माध्यम से संपर्क में रहते हैं। उनसे हमेशा कवियों, लेखकों, देश, दुनिया, राजनीति, साहित्य आदि पर बातें होती रहती हैं। मसय-समय पर उनसे हुई बातचीत में भी कम मौलिकता नहीं है। उदाहरण के लिए सन् २००९ की जनवरी में इलाहाबाद में डॉ. हरिवंश राय बच्चन पर एक सेमिनार साहित्य अकादमी ने आयोजित किया था। मुझे वहाँ बच्चन जी के गीतों और मधुशाला पर बोलना था। जिस सत्र में मुझे बोलना था, उसकी अध्यक्षता सर (मैं उन्हें यहीं संबोधन देता हूँ) कर रहे थे। उनकी बारी आई तो उन्होंने एक अद्भुत बात डॉ. बच्चन के संदर्भ में कही। वे बोले, “बच्चन जी को अपनी लोकप्रियता का बड़ा घमंड था।”

स्मरणीय है कि मैंने अपने पत्रों में “महान कविता” और “लोकप्रिय-कविता” का मसला उठाया था और बच्चन जी को “लोकप्रिय कवि” कहते हुए यह बात जोड़ी थी कि “बच्चन जी महान कवि हैं कि नहीं, यह तय होना अभी बाकी है। मिल्टन महान कवि तो है लेकिन वे लोकप्रिय नहीं हैं। जबकि तुलसीदास महान और लोकप्रिय दोनों हैं।”

दूसरा वाक्या कवि-कथाकार उदय प्रकाश से संबंधित

है। एक बातचीत में उन्होंने कुछ वर्ष पूर्व कहा, “वह जीनियस है। समाज को उसको बर्दाश्त करना चाहिए।”

एक और बातचीत में उन्होंने कभी कहा था, “मैंने भीष्म साहनी की एकाध कहानियाँ पढ़कर कुछ विचार बना लिए थे। लेकिन उनके कुछ संग्रहों को पढ़कर मेरे विचार बदल गए और मैं उन्हें अच्छा कहानीकार मानने लगा।” इसी प्रकार कवियों में चाहे राजेश जोशी हो या रघुवीर सहाय या नागार्जुन; सब पर उनकी टिप्पणियाँ इतनी मौलिक हैं कि उन्हें सहज-स्वीकार्यता प्राप्त हो जाती है। कुछ उदाहरण देखें—“दो लोग या कवि-मनुष्य पर लिखते या बोलते समय मुझे दिक्कत महसूस होती है, एक रघुवीर सहाय और दूसरे राजेश जोशी। इन दोनों की कविताओं में इतनी विविधता है कि हर कविता जीवन-खंड के एक ऐसे दृश्य को लेकर आती है कि उसका वर्गीकरण आसान नहीं रह जाता। आलोचना और अनुसंधान का पहला ही चरण जो वर्गीकरण का है, इसमें दोनों की कविताएँ कोई रास्ता नहीं देती हैं। मुझे लगता है कि सृजनशीलता का यह बहुत बड़ा सार्वभौमिक नियम है कि उसमें विविधता होती है। विविधता एक सृजनात्मक प्रक्रिया है जिसको इन दोनों की कविताएँ बहुत गहनता से धारण करती हैं।”

इसी तरह यहाँ तक कि हास्य के पुट वाली उनकी बातों में भी उसी मौलिकता के दर्शन होते हैं। एक बार रीतिकाल के किसी कवि की एक पंक्ति ने उन्हें बहुत ‘बेचैन’ किया था। उस प्रसंग की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं, “हमारे यहाँ (दिल्ली विश्वविद्यालय) के बड़े प्रसिद्ध एक रीतिकाल के पंडित हैं। मैंने उनसे कहा कि देखिए यह बहुत व्याकुल करने वाली कविता है तो उन्होंने कहा कि नाहक परेशान हो, मानिनी नायिका है मान जाएगी।” उस पंक्ति को हम भी देखें! यह मतिराम की कविता है:

सोवन दीजे, न दीजे हमें दुःख

काहे को यो रसवाद बढ़ायो

मान रहोई नहीं मनमोहन

मानिनी होई सो माने मनायो

इन पंक्तियों की आंतरिकता और आत्मा पर बात करते हुए प्रो. तिवारी आगे लिखते हैं, “क्या ‘मान रहोई’... को शास्त्र समझेगा? जबकि मध्यकाल में नारी का अस्तित्व

क्या है, यह संदर्भ जब तक न दीजिए तब तक भाव तो वहीं ले जाएगा। भाव तो भोग्या बनाएगा। जानवरपन में, रति के जानवरी व्यवहार में ले जाएगा। इससे आगे तो नहीं ले जाएगा। लेकिन ज्योंही आप उसमें एक सामाजिक निर्मिति डाल देते हैं, और वह भी उसी जमाने का, कि स्त्री का कोई अधिकार था कि नहीं? तो व्याख्या बदल जाती है। अब आप देखेंगे कि उसमें कितने कंसट्रक्ट्स हैं” क्या रीतिकाल पर ऐसी आँख खोलने वाली बात हिंदी के किसी आलोचक ने की है। उसमें तो डॉ. नगेन्द्र जैसे लोग भी ‘कविता’ ही ढूँढ़ते रहे हैं। इसी तरह अपने विविधवर्णी लेखन में उन्होंने ज्ञान के अलग-अलग अनुशासनों को तो अपना विषय बनाकर साहित्य से मुठभेड़ और उसकी वृद्धि के लिए खड़ा किया ही है; राजनीति और इसके आकाओं पर भी ऐसी प्रामाणिक टिप्पणियाँ की हैं जो हिंदी आलोचना के दायरे से बाहर रही हैं। अपने प्रिय राजनीतिज्ञों गांधी और लोहिया के चिंतन को उन्होंने जिस तरह साहित्य बनाया है; उससे साहित्य और राजनीति के चरित्र चित्रण में काफी मदद ली जा सकती है। “लोहिया और हिंदी आलोचना” नामक लेख में उनका यह अद्भुत कमाल देखिए, “लोहिया अपने चिंतन में ऐसे अवकाश पैदा कर लेते हैं कि जहाँ ‘वर्चस्व’ या काबू करने वाले ज्ञान के मुकाबले ‘समझ’ को तरजीह देने वाले ज्ञान-संवेदन कुंद न पड़ें और जीवन या सत्य के मर्म के किसी पहलू को छिपाने या रूंधने को कुंठा न पैदा हो। यही कारण है भारतीय भाषाओं के रचनाकारों पर गांधी के बाद लोहिया का सर्वाधिक प्रभाव और सम्मान है।” वे आगे इसी लेख में लिखते हैं, “हिंदी के धर्मवीर भारती, फणीश्वर नाथ रेणु, रघुवीर सहाय, विजयदेव नारायण साही, असमिया के वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य, कन्नड़ के यू आर अन्नंतमूर्ति, डी नागराज मराठों के विजय तेंदुलकर समेत अनेक रचनाकारों के प्रेरणास्रोत लोहिया थे। उनकी (लोहिया की) प्रतिभा ने ऐसे विवरण-सूत्रों को खोजा पहचाना जिनसे पश्चिमी और औपनिवेशिक ज्ञान-कांड

का मुकाबला किया जा सके।”

इन दोनों उद्धरणों में ‘ज्ञान-कांड’, ‘विवरण- ‘सूत्र’ ‘ज्ञान संवेदन’ आदि शब्द अपनी स्वतंत्र इयत्ता और व्याख्या की मांग करते हैं और विनिर्मिति के कई ढांचों को अपने में समेटते हुए अपने सामने के साहित्य को सामाजिक सरोकारों से जोड़ते हुए रचनाधर्मिता का एक सामाजिक-उदात्त हमें सौंपते हैं, जिसमें राजनीति ‘अछूत’ नहीं है। इन शब्दों के माध्यम से भी बहुत ही उलझाव पैदा करने वाले और अब तक लगभग अपरिभाषित ‘सभ्यता-विमर्श’ के मोर्तों की राजनीति और इतिहास से जोड़कर समझने की कोशिश की जा सकती है; हालांकि प्रो. तिवारी ने मुझसे यह चर्चा चलने पर कहा था, “देखो शशिभूषण! विनिर्मिति शब्द का प्रयोग बहुत सोच-समझकर करना चाहिए!”

इसीलिए तो प्रो. तिवारी का कुछ भी ‘सोच’ और ‘चिंतन’ के दायरे से जरा भी विचलित नहीं होता और उनका हर ‘पॉज’ या ठहराव एक ऐसा नया शब्द हिंदी के चिंतन को दे देता है जो नए से नए विमर्शों का रास्ता खोल देता है। उनके व्यक्तित्व और लेखन को खूब उदारता, खुलेपन, सहृदयता और संस्कारी पुट के साथ समझने की जरूरत है, वरना चिड़ियों द्वारा दाना चुग लिए जाने का खतरा हमेशा बना हुआ है और भले आदमी के लिए संकट पैदा करना ‘राजनीति’ चाहे वह साहित्य की हो या सत्ता की, के लिए हमेशा खतरनाक साबित हुआ है। हिंदी की अखाड़ेबाजी इससे मुक्त जाय तो उसमें उदात्तता का आदरभाव आ जाएगा!! और अगर इसका माध्यम प्रो. तिवारी बनते हैं या विनोद शाही बनते हैं, या जीवन सिंह बनते हैं तो क्या हर्ज है। ये हिंदी के मौलिक नक्षत्र हैं जिन्हें समझने में मैं कई संदर्भों के साथ दो वर्षों से लगा हूँ। यह लेख उसी अभियान का अंश है जिस पर मैं मगहर में कबीर की समाधि पर प्रणाम निवेदित करके, हालांकि संयोगवश ही निकला था।

इस लेख को प्रो. तिवारी के आलोचना कर्म पर किए जा रहे काम के प्राक्कथन की तरह भी पढ़ा जा सकता है।

संपर्क : 09775938214

धूमिल की समकालीन काव्य दृष्टि शशि कुमार शर्मा

बृहत् प्रमाणिक हिंदी कोश में 'समकालीनता' का अर्थ 'उसी समय होने वाला' 'वर्तमानकालिक' तथा 'आधुनिक' बताया गया है जबकि 'कविता' (पोएट्री) के संदर्भ में कहा गया है कि 'कविता भाव की लयात्मक अभिव्यक्ति है।'

हिंदी साहित्य में 'समकालीन कविता' का समय साठोत्तरी कविता के पश्चात् तथा १९७० ई. के लगभग माना जाता है। इस काल के महत्वपूर्ण कवियों में धूमिल, रघुवीर सहाय, दुष्यंत कुमार, लीलाधर जगूड़ी, राजकमल चौधरी तथा श्रीकांत वर्मा आदि प्रमुख हैं। इन कवियों ने अपनी रचनाओं में उस समय के विभिन्न घटनाओं के जीवंत चित्रों को उद्घाटित किया है। 'यथार्थ' का अंकन ही समकालीन कविताओं की मुख्य प्रवृत्ति रही है। अजय तिवारी के शब्दों में 'आज-कल जिसे समकालीन कविता कहा जाता है, वह मोटे तौर पर १९७० के बाद लिखी कविता है। जो बात सबसे पहले ध्यान खींचती है, वह है स्वाधीनता आंदोलन की स्मृति और मोहभंग के हैंग-ओवर से उसका पूरी तरह मुक्त होना। उसके काव्य विवेक की सीमाएं और शक्तियाँ दोनों इसी बिंदु से निःसृत हुई हैं। यह पूरी तरह स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी की रचना है।'

समकालीन हिंदी कविता में धूमिल का विशिष्ट स्थान है। उनकी विशिष्टता का कारण है, उनकी रचनात्मक और सृजनात्मक दृष्टि। आम आदमी उनकी रचनाओं की नाभिकीय धूरी है। वह शासन-व्यवस्था में परिवर्तन चाहते हैं, जिससे जनसाधारण के जीवन में भी परिवर्तन संभव हो। धूमिल की कविता आदमियत के लिए निरंतर संघर्ष की प्रक्रिया है। आम आदमी की पीड़ा और छटपटाहट को उन्होंने आत्मसात् किया है। इस अनुभव की अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी पटकथाओं में भी अत्यंत जिंदादिली और संजिदगी के साथ किया है।

आजादी के पूर्व हमारे देश के अनेक महान नेताओं ने अपना सर्वस्व त्याग कर भारतवासियों को आजादी दिलायी। किसी ने अपना सब कुछ स्वाहा करके 'करो या मरो' का नारा लगाया तो किसी ने 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा' की ज्वाला अपने अंदर से प्रज्ज्वलित की, जिससे हमारे देशवासियों को गुलामी से मुक्ति मिले। देशवासियों को आजादी तो मिली, पर अधिकार नहीं क्योंकि उस समय की शासन-व्यवस्था ने जनता को आजादी की आड़ में गुलामी की जंजीर पहनाकर रख दिया। इस प्रकार के नेता अधिकांशतः अवसरवादी, लालची और सुविधाभोगी होते हैं जो तंत्र को यंत्र की भांति इस्तेमाल करते हैं। परिणामतः जनता सुव्यवस्थारूपी तंत्र की नहीं अपितु कुव्यवस्थारूपी यंत्र की शिकार होती जा रही है। धूमिल ने अपनी प्रसिद्ध

कविता 'आदमी' में इस सच्चाई का उल्लेख इस प्रकार किया है- 'ना कोई प्रजा है/ ना कोई तंत्र है/ यह आदमी के खिलाफ/ आदमी का षड्यंत्र है।'

धूमिल ने समकालीन परिस्थितियों की अभिव्यक्ति अपनी कविताओं में पारदर्शिता के साथ किया है। उन्होंने राजनीतिक विसंगतियों, सामाजिक विकृतियों तथा खोखले सिद्धांतों के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए यथार्थ को उजागर किया है। इस 'यथार्थ' से परिचित होने के पश्चात् राजनेताओं और उनके द्वारा संचालित सत्ता-व्यवस्था के प्रति जनता के हृदय में मोहभंग की स्थिति पैदा होती है। यह मोहभंग उस तंत्र के प्रति है, जिसमें सत्ताधारी वर्ग राजनीति का दाव-पेंच खेलते रहते हैं और आम जनता पिसती जाती हैं। नंदकिशोर 'नवल' ने व्यवस्था विरोध के पीछे राजनीति के कुचक्र को मुख्य जिम्मेदार माना है। उन्होंने कहा है- 'समकालीन कविता का प्रमुख नारा है- 'व्यवस्था का विरोध'। यह विरोध सही ढंग से किया जा रहा हो, या गलत ढंग से, लेकिन इसमें कोई शक की बात नहीं है कि यह विरोध राजनीतिक है। इस प्रकार समकालीन कविता मूलतः राजनीतिक कविता है।'

समकालीन कविता ने यथार्थ को उजागर कर, उसके विभिन्न पहलुओं को अंकित किया है। यह लोगों के अंदर छिपी हुई सूझ-बूझ तथा विवेक को उदबुद्ध करती है। जन-सामान्य की दृष्टि (विजन) को प्रखर रूप प्रदान करती हुई, शासन-व्यवस्था की पोल खोलती है। धूमिल ने इसका क्रांतिकारी रूप टिप्पणी करते हुए कहा है- "समकालीन कविता की सबसे बड़ी पहचान यह है कि वह आक्रामक है। आज के लेखन ने कविता को क्रांति के लिये बेहतर हथियार के रूप में चुना है।" अतः धूमिल ने समकालीन कविता की तुलना हथियार से करते हुए, इसके आक्रामक रूप को सही मायने में अपनी कविताओं में लिपिबद्ध किया है।

'व्यवस्था विरोध' की अभिव्यक्ति समकालीन कविता का मूल केन्द्र बिंदु रहा है। बेरोजगारी, भुखमरी, अवसरवादिता, धर्मांधता, झूठे आश्वासन, भ्रष्ट प्रशासन तथा राजनीतिक जड़ता ने जनता के स्वप्नों और विश्वासों को तोड़ा है। फलतः इन कुतत्त्वों का 'वायरस' सम्पूर्ण

शासन व्यवस्था में जड़ से तना तक व्याप्त हो गया है। ये दीमक और घुन की भाँति जनता और देश को अंदर ही अंदर खोखला करते जा रहे हैं। समकालीन कवियों ने इन उपर्युक्त तत्त्वों पर प्रहार किया है।

आजादी के कई दशकों बाद भी कवियों को यह समझ में नहीं आता कि लोग तिरंगा के सामने सिर क्यों झुकाते हैं? क्यों सलाम करते हैं? क्या इस प्रकार की क्रिया-कलापों से उन्हें कुछ विशिष्ट अधिकारों की प्राप्ति होती है? जी नहीं! अधिकारों की प्राप्ति तभी संभव है, जब व्यवस्था (सिस्टम) में सुधार हो, परिवर्तन हो। धूमिल ने 'बीस साल बाद' नामक कविता में यह स्पष्ट किया है कि झंडा के सम्मान करने से नहीं अपितु अव्यवस्था का विरोध करने से सटीक व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। धूमिल के शब्दों में- 'मैं अपने आप से सवाल करता हूँ/ क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुये रंगों का नाम है/ जिन्हें एक पहिया ढोता है/ या इसका कोई खास मतलब होता है?'

समकालीन कवि जनता की मजबूरी, विवशता तथा उनके अंदर छिपी निराशा को भली-भाँति समझते हैं। सिर्फ क्रांति का नारा लगाने और जुलूसों में भीड़ बढ़ाने से सुव्यवस्था की स्थापना नहीं की जा सकती। सुव्यवस्था और समानता की स्थापना तभी हो सकती है जब हम उचित चुनाव करे। इसके लिये हमें सर्वप्रथम अपने आप को बदलना होगा, तभी शासन-व्यवस्था में बदलाव लाना संभव है। क्योंकि- 'आप भला तो जग भला।' धूमिल ने 'रोटी और संसार' नामक कविता में नेताओं की शासन-व्यवस्था में पिसते जनसामान्य का संवेदनशील चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है- 'एक आदमी रोटी बेलता है/ एक आदमी रोटी खाता है/ एक तीसरा आदमी भी है/ जो न रोटी बेलता है/ न रोटी खाता है/ वह सिर्फ रोटी से खेलता है/ मैं पूछता हूँ यह तीसरा आदमी कौन कौन है/ मेरे देश की संसद मौन है।' नेताओं के छल-छद्म तथा तिकड़मबाजी के कारण देश के प्रति जिस निर्मल भविष्य की कल्पना देशवासियों ने किया था, उसे धूमिल करने में नेताओं ने कोई कसर नहीं छोड़ा। ईमानदार समाजसेवी बेईमान बन बैठे। जनता की जी-जान से सेवा करने की कसम खाकर, कानून की वर्दी धारण करने वालों ने लालच से वशीभूत

होकर छल-कपट और फरेब का मार्ग अपनाया। धूमिल के शब्दों में – “मैंने अहिंसा को/ एक सत्तारूढ़ का गला काटते हुये देखा/ मैंने ईमानदारी को अपनी चोर जेब/ भरते हुये देखा/ मैंने विवेक को/ चापलूसों के तलवे चाटते हुए देखा।”

‘समाजवाद’ एक शब्द है जिसे अधिकतर नेता सुरक्षा कवच के रूप में ईस्तेमाल करते हैं। समकालीन कवियों की दृष्टि में यह पाँच अक्षरों का एक शब्द मुहावरा बनकर रह गया है। व्यक्ति, परिवार, समाज और देश को मजबूत व्यवस्था प्रदान करने की कसम खाने वाले, इस ‘समाजवाद’ का ढोल पिटकर सिर्फ और सिर्फ अपनी सत्ता को ही मजबूती प्रदान करते जा रहे हैं। धूमिल ने स्पष्ट कहा है– ‘समाजवाद/ उनकी जुबान पर अपनी सुरक्षा का/ एक आधुनिक मुहावरा है/ मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद/ मालगोदाम में लटकती हुई/ उन बाल्टियों की तरह है जिस पर ‘आग’ लिखा है/ और उनमें बालू और पानी भरा है।’

समकालीन कविता जीवन से संघर्ष करते, अपने अस्तित्व से लड़ते तथा शासन-व्यवस्था में पिसते लोगों का दर्पण है। यह सत्य को उद्घाटित कर, असत्य का पर्दाफाश करती है। उसे बेनकाब करके जनता के अंदर चेतना का संचार करती है, जिससे जनता उचित चुनाव कर सके। विश्वंभर उपाध्यायजी ने इस संदर्भ में कहा है– “समकालीन कविता में जो हो रहा है (विकर्मिग) का सीधा खुलासा है। इसे पढ़कर वर्तमान काल का बोध हो सकता है क्योंकि उसमें जीते, संघर्ष करते, लड़ते, गरजते तथा ठोकर खाकर सोचते वास्तविक आदमी का परिदृश्य है। आज की कविता में काल अपने गत्यात्मक रूप में है, ठहरे हुए क्षणों या क्षणांश के रूप में नहीं। यह काल क्षण की कविता नहीं, काल प्रवाह की, आघात और विस्फोट की कविता है।” अतः धूमिल ने जनता के उस जिजीविषा का संवेदनशील चित्र को चित्रित किया है, जिसका स्वप्न हमारे देशवासी दो सौ वर्षों से देखते आये हैं। ‘संसद से सड़क तक’ नामक कविता संग्रह में धूमिल ने देशवासियों के आंतरिक छटपटाहट को दर्शाया है। इस मार्मिक व्यथा से छुटकारा पाने के लिये जिसने भी संसद का दरवाजा खटखटाया,

उसे निराशा ही हाथ लगी, जिसने भी सत्य का आश्रय लिया, उसे अव्यवस्थारूपी तीव्र अग्नि से होकर गुजरना पड़ा। परिणामतः जनता के अंदर नेताओं के प्रति जो विश्वास तथा श्रद्धा की भावना विराजमान थी वह लुप्त होकर विरोध के रूप में सामने आई। धूमिल के अनुसार– “अपने यहाँ संसद/ तेली की घानी है/ जिसमें आधा तेल है/ और आधा पानी है/ और यदि सच नहीं है/ तो वहाँ एक ईमानदार आदमी को/ अपनी ईमानदारी का/ मलाल क्यों है/ जिसने सत्य कह दिया है/ उसका बुरा हाल क्यों है।”

सन् १९४७ के पूर्व हमारा देश गुलाम था। देशवासियों ने गुलामी को सैकड़ों वर्षों तक भोगा। ढेर सारे दुःखों और यातनाओं को सहा और झेला। देश के कर्णधारों ने अपना सर्वस्व त्याग कर जनता को गुलामी से मुक्त किया। उन्होंने जनता के अंदर स्वर्णिम भविष्य की अभिलाषा जागृत किया। आजादी के अनंतर इस प्रकार की आकांक्षा का आविर्भाव होना स्वाभाविक था। पर दुर्भाग्य की बात यह रही कि जनता की यह इच्छा स्वप्न बन कर रह गयी। कारण आजादी से पूर्व अंग्रेजों द्वारा भारतीयों का शोषण किया जाता था, और आजादी के पश्चात् सत्ताधारियों द्वारा। इस प्रकार विदेशी शासकों का स्थान देशी शासकों ने ग्रहण किया। इसी संदर्भ में क्षोभ प्रकट करते हुए धूमिल ने कहा है– “मेरे सामने वही चिरपरिचित अंधकार है/ संशय की अनिश्चितता ग्रस्त ठंडी मुद्रायें हैं/ हर तरफ/ शब्द भेदी सन्नाटा है/ दरिद्र की व्यथा की तरह/ उचाट और कूँथता हुआ/ घृणा में डूबा हुआ सारा का सारा देश/ पहले की ही तरह आज भी मेरा कारागार है।” अतः समकालीन कविता व्यवस्था विशेष पर प्रहार करती हुई, उस समय की चुनौतियों का मुकाबला मुकम्मलता के साथ करती है। बहुत से विद्वानों ने इसे समकालीनता का वास्तविक सरोकार के रूप में स्वीकार किया है। कल्याण चंद्र जी के शब्दों में– “समकालीन कविता एक ऐसी काव्य चेतना का नाम है, जो छठे दशक के बाद उभर कर सामने आयी, जिस पर विचार तत्त्व का प्रभाव है, जो अपने परिवेश से प्रतिबद्ध है, जिसमें मोहभंग से उत्पन्न दयनीयता नहीं है, वरन् परिवेश से जुड़ाव है। इसीलिये वर्तमान संदर्भों को जीती, विसंगतियों से जूझती और उस पर चोट करती हुई आज की उस

कविता को समकालीन कविता माना जा सकता है, जिसमें व्यवस्था के विरुद्ध सब कुछ कहने का साहस हो, पर मर्यादित रूप में और उसके साथ ही उस व्यवस्था के शिकार आम आदमी के प्रति सच्ची संवेदना हो, यही समकालीनता का तर्क है और यही कविता का वास्तविक सरोकार।” इन संपूर्ण कारकों तथा तत्त्वों के आड़ में नेताओं द्वारा अव्यवस्थित राजनीति का खेल खेला जा रहा है, जिसका फल आम आदमी भोग रहा हैं। इस प्रकार धूमिल ने अपने तीनों कविता संग्रह- ‘संसद से सड़क तक’, ‘कल सुनना मुझे’ तथा ‘सुदामा पांडे का प्रजातंत्र’ में पारदर्शिता के साथ व्यवस्था की पोल खोलते हुए, जनता का कल्याण और हित चाहा है।

धूमिल की काव्यभाषा जनता के कष्टों का ज्वलंत चित्र प्रस्तुत करती है। अपनी काव्यकृतियों में उन्होंने सपाटबयानी और अक्रामक भाषा का प्रयोग किया है। ‘कल सुनना मुझे’ नामक कविता में धूमिल ने स्वीकार किया है कि- *“छायावाद के कवि शब्दों को तौलकर रखते थे/ प्रयोगवाद के कवि शब्दों को टटोलकर रखते थे/ नयी कविता के कवि शब्दों को गोल कर रखते थे/ सन् साठ के बाद के कवि शब्दों को खोलकर रखते हैं।”* अतः धूमिल अपने वक्तव्यों के माध्यम से कठिन से कठिन चुनौतियों का सामना कर उसे परिस्थितिनुकूल बना लेते थे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि धूमिल ने आजादी के

पश्चात् देश में व्याप्त सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के विविध आयामों को नग्नता के साथ उद्घाटित किया है। एक ओर जहाँ राजनेताओं की दोहरी नीति, स्वार्थपरता, भ्रष्ट शासन व्यवस्था तथा उनकी हिंसक वृत्ति का पर्दाफाश किया है, वहीं दूसरी ओर जनता की इच्छा आकांक्षा, सुख-दुःख तथा दयनीय जीवन को भी उभारा है। इनकी काव्य दृष्टि मानवीय मूल्यों, जनवादी मूल्यों और प्रगतिशीलता की भावना से संलग्न हैं। नंदकिशोर नवल जी के शब्दों में- *“समकालीन कविता पर काम करते हुए मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उसमें हिंदी कविता कल्पना और मिथक से यथार्थ की ओर, व्यक्ति से समाज की ओर, असाधारण से साधारण की ओर विकसित हुई है, निश्चय ही जटिल रूप में, क्योंकि इस विकास के यथार्थ के साथ कल्पना और मिथक को, समाज के साथ व्यक्ति को और साधारण के साथ असाधारण को छोड़ा नहीं गया। कुल मिलाकर हिंदी की समकालीन कविता विद्रोह की कविता है, वह विद्रोह भले ही कहीं पूर्णतया प्रकट हो या कहीं दबा हुआ व्यंग्य हो।”*

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि समकालीन कविता सत्ता की क्रूरता, भ्रष्ट व्यवस्था, स्वार्थपूर्ण राजनीति, पूँजीवादी शोषण तंत्र, आक्रोश, वर्णवाद और सांप्रदायिकता का विरोध करके, जनता के अंदर उनके अधिकारों के प्रति एक नवीन रचनात्मक दृष्टि और दिशा प्रदान करती है।

संपर्क : हिंदी विभाग, वर्द्धमान विश्वविद्यालय, गुलाबबाग

घड़ी के 'भ्रमर' देखने की कला तरसेम गुजराल

एक सफल कथाकार होने के साथ 'हानूश' जैसे कालजयी नाटक की रचना भीष्म साहनी के लिए चुनौतीपूर्ण कार्य था। उन्होंने कहा है- 'हानूश का कथानक तो मुझे बाँधता था पर उसे नाटक में कैसे डालूँ, मेरे लिए कठिन हो रहा था।... न छोड़ते बनता था, न लिखते बनता था। ऐसा अनुभव शायद हर लेखक को होता है। एक बार कीड़ा दिमाग में घुस जाये तो वह निकाले नहीं निकलता।' यह एक रचनाकार की मुश्किल थी। नाट्य विधा की चुनौतियों से जूझने तथा नाटक की रचना प्रक्रिया सृजन प्रक्रिया में गहरे तल पर उतरने की कोशिश थी। 'हानूश' के घड़ी बनाने की लगन से मिलती जुलती थी। हानूश के घड़ी बनाने की तरह ज्यादा समय लग रहा था।

'दो शब्द' में नाटक के बीजरोपण की बात बतायी। १९६० के आसपास नाटककार को चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में जाने का अवसर मिला। प्राग में घूमते हुए लगा कि जैसे वह यूरोप के किसी मध्यकालीन काल खंड में पहुँच गये हो। प्राचीन गिरजे, पुरानी वजह की सड़कें, पुराने बीयर घर आदि। हिंदी के जाने माने कथाकार निर्मल वर्मा उन दिनों वहीं थे। चेक भाषा तथा संस्कृति के अच्छे जानकार। घूमते-घूमते एक दिन उन्होंने भीष्म जी को एक मीनारी घड़ी दिखायी जिसे लेकर वहाँ तरह-तरह की कहानियाँ प्रचलित थीं कि वह प्राग में बनायी जाने वाली पहली मीनारी घड़ी थी तथा इसको बनाने वाले को उस समय के बादशाह ने अजीब तरह से पुरस्कृत किया था।

हजारों प्रयटक प्राग के उन प्राचीन बिरजें, पुरानी वजह की सड़कों पर से ही नहीं, मीनारी घड़ी के पास से गुजरे होंगे परंतु शायद ही किसी को उस दृश्यावली ने इस तरह विचलित किया होगा जिस तरह भीष्म साहनी को न्यूटन से पहले जैसे हजारों लाखों लोगों के सामने सेब गिरा होगा परंतु किसी के पास उस वैज्ञानिक मन की उस तरह की तैयारी नहीं थी, जहाँ सेब का गिरना एक सिद्धांत की परिणति पा जाता है। बात भीष्म साहनी के मन में अटकी रही, समय बीत जाने पर भी यदा-कदा विचलित करती रही अन्ततः 'हानूश' नाटक के रूप में अभिव्यक्ति पा गई। भीष्म साहनी के अनुसार यह नाटक ऐतिहासिक नहीं है, न ही इसका अभिप्राय घड़ियों के अविष्कार की कहानी कहना है। कथानक के दो एक तथ्यों को छोड़कर, लगभग सभी कुछ ही काल्पनिक है। नाटक एक मानवीय स्थिति को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास मात्र है।

'हानूश' नाटक अपनी पृष्ठभूमि से और लिखे जाने के मूल प्रेरक तत्त्व की वजह से भले ही यूरोप के किसी शहर का नाटक लगे परंतु इसके रंगमंच पर प्रस्तुतिकरण से और यहाँ तक कि

इसके पाठ से नाटक विशुद्ध भारतीय ही लगता है।

‘हानूश’ भीष्म साहनी का पहला पूर्णकालिक नाटक है, जिसकी रचना १९७६ में हुई। पुस्तकाकार में पहली बार छपा था १९७७ में। अभियान संस्था द्वारा राजिन्दर नाथ के कुशल निर्देशन में अभियान संस्था द्वारा रंगमंच पर पहली बार १९७७ में ही १० से १३ मार्च तक दिल्ली में खेला गया।

बड़े कैनवास का यह नाटक कालजयी इसलिए हो सका कि यह असंभव के विरुद्ध अपने ही ढंग से प्रतिरोध रचता है। साथ ही एक रचनाकार की अटूट रचनाशीलता का रचनाशीलता की तह में ठने तनाव, आकुलता, द्वन्द्व का सजग, सफल चित्रण इस नाटक को दूसरा आधार और स्तर प्रदान करता है। एक तरफ रचना की सामाजिक उदात्तता की तड़प है दूसरी तरफ आर्थिक अभाव आत्म सिकुड़न की तरफ ले जाने वाले हैं। रचनाशीलता का अंदरूनी तनाव, पारिवारिक सामाजिक चुनौतियों, कड़वे अनुभव और विभिन्न मानवीय स्थितियों का चित्रांकन मोहन राकेश के नाटक ‘आषाढ़ का एक दिन’ के बाद यहीं नजर आया परंतु मौलिक और अलग पृष्ठभूमि में। यह चीज यहाँ प्रभावमंडल नहीं रचती। अलबत्ता आधुनिक मनुष्य को ऐसी जागरूकता देती है जिसमें विश्वास फिर से सच्चे लोकतंत्र, मानवतावाद में प्रकट होते हैं। क्योंकि राज्यशाही सामंतवाद और निरंकुशता एक रेखीय होते हैं। कानून वही जो राजा के मुख से निकले। दशम पातशाह गुरु गोविंद सिंह के दो पुत्र इसी राजाना के चलते दीवार में चुनवा दिये गये। गैलीलियो जैसा वैज्ञानिक पोप के राजसी क्रोध का शिकार हुआ। १५०० के आसपास कोपरनिकस ने साबित कर दिया कि चंद्रमा सचमुच पृथ्वी के चारों ओर चक्कर काटता है परंतु बुध, शुक्र, मंगल और दूसरे ग्रह पृथ्वी के नहीं सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और स्वयं पृथ्वी? दूसरे ग्रहों के बीच अपवाद है? नहीं, हर्गिज नहीं। पृथ्वी भी सूर्य के चारों ओर घूमती है। क्या यह सहज स्वीकार्य था? बाइबल में बताया गया था कि पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है, मनुष्य पृथ्वी का स्वामी है और सूर्य, चंद्रमा और तारे मनुष्य के लिए ही बनाये गये हैं। ताजमहल बनाने वाले कारीगरों के हाथ काट दिये गये। असंवेदनशीलता, गैर

मानवीय व्यवहार की दुर्घटनाओं से इतिहास भरा है। हानूश को बरसों की मेहनत के बाद घड़ी बनाने की सफलता मिली। ऐसे नायाब काम को पूरा करने के लिए वहाँ के राजा द्वारा एक हजार सोने की मोहरें और एक राजदरबारी होने का रुतबा मिला परंतु वैसी घड़ी और न बने इसके लिए हुकूमत ने उसकी आँखें निकाल कर उसकी हर्निया को अंधकारमय कर दिया। एक साक्षात्कार में उन्होंने कहा है कि इस कहानी ने उन्हें बहुत पीड़ा दी थी। ‘कलाकार के सृजन को भी सामंतशाही अपनी निजी संपत्ति मानती है। ताजमहल बनाने वाले शिल्पकारों के राजा ने हाथ कटवा दिये थे। ताकि वे ऐसा दूसरा ताजमहल न बनवा दे।

क्योंकि नाटक ‘हानूश’ की रचना १९७६ में हुई। इसका पुस्तकाकार प्रकाशन १९७७ में हुआ और रंगमंचीय आधार भी १९७७ में ही मिला, इसके साथ ही नाटक रचनाकार के प्रति शासकीय क्रूरता विद्यमान है और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर गहरे सवालिया निशान हैं इसलिए इस नाटक में अनेक मित्रों द्वारा आपातकाल देश में लगे आपातकाल और फलस्वरूप प्रतिबंधों को आपातकाल के प्रभावाधीन देखा गया है। तब देश में आम आदमी से देश के संविधान द्वारा दिये गये सभी अधिकारों को प्रश्नांकित किया गया था। ‘सारिका’ जैसी कहानी पत्रिका स्याह हाशिये में निकाली गई। किसी भी ऐसी रचना का प्रसारण रोक दिया गया जिसमें हल्की सी भी व्यवस्था के प्रति विरोध की गंध आती हो। इतना ही नहीं, सौ साल पहले लिखे गये भारतेन्दु हरिश्चंद्र के सुप्रसिद्ध नाटक ‘अंधेर नगरी’ के प्रसारण पर आकाशवाणी द्वारा रोक लगा दी गई। कवियों की कविताओं की प्रत्येक पंक्ति में छुपे बिच्छु अर्थों को संदेह की दूरबीन से देखा गया। नाटक खेला जायेगा या नहीं। इसका फैसला थानेदार कर रहे थे। अवाम को यह प्रतिबंध, सांस रोको अभियान स्वीकार नहीं था, जिसका उसने अपने ढंग से उत्तर दिया। कवियों, लेखकों, पत्रकारों पर डंडे बरसाना जनता को मंजूर न था।

‘आज के अतीत’, ‘आत्मकथा’ में भीष्म साहनी ने इस नाटक का जिक्र कुछ इस तरह किया है— नाटक की राष्ट्रीय नाट्य समारोह में ‘हानूश’ की सफलता पर अमृता प्रीतम के फोन की चर्चा की गई है। वह कहती है— तुमने

‘इमरजेंसी’ पर खूब चोट की है। मुबारक हो।’... इमरजेंसी पर मैंने चोट की है सुनकर मैं चौंका जरूर। उन्हें इमरजेंसी सूझी? इमरजेंसी तो मेरे ख्वाब ख्याल में भी नहीं थी। मैं तो बरसों से अपनी ही इमरजेंसी से जूझता रहा था। बेशक जमाना इमरजेंसी का ही था जब नाटक ने अंतिम रूप लिया।

हेमिंग्वे के उपन्यास ‘ओल्ड मैन एंड द सी’ का बूढ़ा आदमी हर बार पराजय से इनकार करता है। भीष्म साहनी का नाटक ‘हानूश’ एक रचनाकार की रचनाशीलता, मानवीय अस्मिता और अटूट विश्वास को सभी बाधाओं के बावजूद पुकार रहा है— ‘घड़ी बंद नहीं होगी।’ मर्म को कचोटती हुई पंक्तियाँ हैं— घड़ी बन सकती है, घड़ी बंद भी हो सकती है। घड़ी बनाने वाला अंधा भी हो सकता है, मर भी सकता है लेकिन यह बहुत बड़ी बात नहीं है। जेकब चला गया, ताकि घड़ी का भेद जिंदा रह सके, यह सबसे बड़ी बात है।’

वह पत्नी कात्या से कहता है— मैंने अपने लिए तो घड़ी नहीं बनायी थी न। काव्या, यह तो सबकी चीज थी। एक बार बन गयी तो सबकी ही होगी, मेरी कहाँ रह गई।

रचना रचनाकार द्वारा रची जाने के बाद रचनाकार की नहीं रहती। पूरे समाज, पूरे युग की थाती हो जाती है। ‘कबिरा खड़ा बाजार में’ कबीर के पद किसी प्रकाशन गृह, अकाशवाणी, दूरदर्शन द्वारा नहीं संभाले गये। कंठस्थ किये गये। अगली पीढ़ी को मिलते रहे। याचक उन्हें गाकर घर की रोटी चला लेते थे। धार्मिक सच्चे धर्म की व्याख्या करते थे। संकीर्णता, अन्याय, धर्मान्धता के प्रति वही पाद प्रतिरोध का स्वर बने।

‘हानूश’ नाटक का नायक हानूश एक साधारण आदमी की तरह कुप्लसाज (ताला बनाने वाला व्यक्ति) है परंतु उसकी गहन इच्छा थी कि वह एक ऐसी घड़ी बनायेगा जो बिना रुके चल सकेगी और सत्रह-अठारह वर्ष तक जीवन की विषम परिस्थितियों में एक कलाकार की जीवन शक्ति के साथ जीना और हार न मानना उसे असाधारण बनाता है।

बुनकर कबीर की तरह उसके घर में खान-पान का कोई खुलापन नहीं है। पादरी जब काव्या को हौसला देने

की कोशिश करता है तब उसके उत्तर से घर की फटहाल स्थिति नुमायां हो उठती है— बच्चे तो भूखों मरते रहे और मैं उसका हौसला बढ़ाती रहूँ? मुझसे यह नहीं होगा। घर की हालात क्या आपसे छिपी है? बच्ची के चिथड़े क्या उसे नजर नहीं आते? जाड़ों में हमारा घर गर्म नहीं हो पाता। क्या उससे छिपा है?’

काव्या हानूश पर तंग आकर कहती है कि जो आदमी अपने परिवार का पेट नहीं पाल सकता, उसकी इज्जत कौन औरत करेगी। काव्या और उपदेश नहीं सुनना चाहती। कहती है— क्या मैं अपने लिए कुछ मांगती हूँ? घर में खाने को न हो तो मैं अपनी बच्ची को कैसे पालूँ? मुझे सभी उपदेश देते रहते हैं। मेरा बेटा सर्दी में ठिठुरकर मर गया। जाड़े के दिनों सारा वक्त खांसता रहता था। घर में इतना ईंधन भी नहीं था कि मैं कमरा गर्म रख सकूँ। हम सायों से लड़की की खपचियाँ मांग-मांग कर आग जलाती रही।’

पति के प्रति गिले-शिकवे से भरी काव्या ‘हानूश’ के भीतर की सृजनात्मक लग्न को भी जानती है— मैं जानती हूँ मेरे रोने-चिल्लाने से कुछ नहीं बनेगा। पहले भी कई बार ऐसा हो चुका है। यह दस दिन के लिए झड़ी बनाना छोड़ देगा, पर ग्यारहवें दिन फिर उससे जा चिपकेगा।’

इस मामूली कुप्लसाज की सृजनात्मकता के विरोध में पूरी व्यवस्था पूरा तंत्र खड़ा है। बादशाह, चर्च (धार्मिक शक्तियाँ) और व्यावसायिक शक्तियाँ। भीष्म साहनी धर्म, पूँजी और राजशाही गठबंधन के यथार्थ को बड़ी सफलता से अभिव्यक्त कर जाते हैं।

नाटक के दूसरे अंक में जार्ज कहता है, हानूश ने यह बात कुछ दिन पहले मुझे खुद सुनायी। लाट पादरी ने कहा कि घड़ी बनाने की कोशिश ही खुदा की तौहीन करना है। भगवान ने सूरज बनाया है, चाँद बनाया है अगर उन्हें घड़ी बनाना मंजूर होता तो क्या वह घड़ी नहीं बना सकते थे? उनके लिए क्या मुश्किल था? इस वक्त आसमान में घड़ियाँ-ही-घड़ियाँ लगी होतीं। सूरज और चाँद भी भगवान की दी हुई घड़ियाँ हैं। जब भगवान ने घड़ी नहीं बनायी तो इंसान का घड़ी बनाने का मतलब ही क्या है?’

गिरिजाघर की नये अविष्कार, नये प्रयोग, नव नवोन्मेष में ज्यादा दिलचस्पी नहीं। काव्या जब परिवार की मंदी

आर्थिक स्थिति के बारे में पादरी को बता रही होती है, तभी वह सूचना देता है कि कुछ दिन पहले हानूश ने गिरजे के अधिकारियों को माली इमदाद जारी रखने के लिए जो दरखास्त दी थी, वह नामंजूर हो गई है। हानूश गिरजेवालों की असलियत जानता है। 'क्या गिरजे वालों ने बेहद दौलत नहीं इकट्ठी कर ली? क्या कोई दुनिया में ऐब है तो पादरी लोग नहीं करते?'

हानूश और लोहार जो हाशिए पर पड़े हुए साधारण लोग हैं गिरजाधर और राजा को बेहतर ढंग से समझ रहे हैं। लोहार कहता है— राजा कभी किसी का दोस्त नहीं होता वह कभी एक ही पीठ थपथपाता है तो कभी दूसरे की। वह देखेगा कि दस्तकार सिर उठाने लगे हैं तो वह सामंतों और गिरजेवालों की पीठ थपथपा देगा।

दूसरे अंक के अंतिम दृश्य में महाराज का कथन कह रहा है कि प्रतिभाशाली सर्जक जरूर अपने तई एक बड़े हुनरमंद की हैसियत रखता हो परंतु राज्य शक्ति के सामने वह है क्या?

—खूब, मतलब कि हमारी घड़ियाँ और शहरों में भी लगी होंगी। उन शहरों की भी रौनक बढ़ाएँगी?...तो फिर यहाँ घड़ी लगाने की क्या तुक है? अगर शहर शहर में घड़ियाँ लगेंगी तो इस घड़ी की अहमियत की क्या रह जायेगी। नदी के पार का खुला राज्य हमारा दुश्मन है? हमारी घड़ी उस राज्य में भी लग सकती है, क्यों?

महाराज को यह भी गवारा नहीं कि उनसे पूछे बिना सृजन कार्य की आधारशिला भी रखी जाये। जब हानूश बताता है कि घड़ी बनाने में उसे सतरह साल लग गये, तब उनकी प्रतिक्रिया है— सतरह साल! और हमें खबर तक नहीं हुई। घड़ी छिपकर बनाते रहे हो?'

राज्यतंत्र को शक्ति और चमक प्रिय है। एक कलाकार का सम्मान भी उसी चमक को बनाये रखने के लिए होता है। इसमें भी पहली चेष्टा कलाकार की संभावनाओं की कुचल देने की होती है। कलाकार को दिया गया राजा की ही शोहरत बढ़ाता है परंतु वह प्रतिभा जो संघर्ष की धार पर और विस्तार पा जाती है, दी गई सुविधा में राज्योचिठ मान मर्यादा में सीमित होकर रह जाती है। हानूश के साथ ऐसा ही व्यवहार किया गया है। इसे

उसके इन शब्दों में पढ़ें— मेरी घड़ी के पास मुझे घसीट कर ले जाओगे? मैं आपके पीछे-पीछे एक वफादार कुत्ते की तरह, आपके कदमों में लोटता हुआ चलाऊँगा...क्योंकि मैंने एक दिन खड़ी बनाई थी।'

गिरजाधर बादशाह के साथ सौदागर वर्ग से जुड़ा है। वह हानूश को घड़ी के ईजाद में मदद करते हैं, परंतु उनके अपने हित जुड़े हैं। एक तरफ नगरपालिका पर घड़ी टांग कर चर्च को चुनौती दे रहे हैं दूसरी तरफ बादशाह को आमंत्रित कर दरबार में मौका खोज रहे हैं। घड़ी के ईजाद होने में व्यापारिक मुनाफे पर उनकी लोभ भरी नजर है ही। सामंतवाद को झुठला कर पूंजी अपनी सरहदों में विस्तार कर रही हैं। जैकब का लाला के व्यापारी के साथ जाना यही दिखाता है।

नाटक में लोहार का चरित्र भीष्म जी ने गहरी रेखाओं से खींचा है। हाशिए पर पड़े हुए अनपढ़ इस शख्स में हानूश के सफल होने में हर कदम पर सहारा देने की ख्वाहिश खूब भरी है। जब आर्थिक अभाव में हानूश निराश हो जाता है और गिरजाधर से मदद बंद हो जाती है वह आगे आकर कहता है— वजीफे का इंतजाम नहीं हुआ तो मैं लोहारों की जमात से तुम्हें पैसा इकट्ठा कर ला दूँगा।' उसका कथन है— दरवाजा खटखटाने वाले का दिल पुख्ता होना चाहिए: दरवाजे की तो कमी नहीं है। इस तरह दिल छोड़ देने से तो दुनिया में काम नहीं चलते।' काव्या दी से कहता है— मैं हूँ तो लोहार, लोहे का काम करता हूँ, पर मैंने दिल लोहे का नहीं पाया है।' उसकी समझ, उसका अनुभव और चीजों को समझने की परख कमाल की है। लाट पादरी के बारे में इसीलिए कह पाता है— स्वयं भगवान भी वह काम नहीं कर सकते जो लाट पादरी कर सकता है। ऊपर भले ही भगवान की चलती हो, मगर नीचे केवल लाट पादरी की चलती है।

उसकी प्रतिबद्धता और स्नेह उसे न घड़ी से दूर होने देता है न हानूश से।

नाटक में कहता है कि गाड़ी की पहियों की आवाज से पता चल जायेगा कि महाराज चले गये। जार्ज कहता है कि कितना अच्छा हो अगर उस वक्त घड़ी बजने लगे। ऐसा कुछ इंतजाम करो, इससे अच्छा असर पड़ेगा। महाराज

भी खुश होंगे। एक बार उनके पहतरने पर बजे, दूसरी बार उनके विदा होने पर।’

महाराज कहते हैं- तुम्हारी घड़ी बजती क्यों नहीं?

हम देर तक नीचे खड़े रहे इस इंतजार में कि अब बजेगी, अब बजेगी। यह कब बजेगी?’

हानूश का साधारण परंतु सत्य तथ्य की गहराई से डूबा उत्तर है...हज़ूर, अपने वक्त पर बजेगी। अब जल्दी ही बजना चाहती है।’

महाराज का दंभ भरा प्रश्न है- ‘अपने वक्त पर बजेगी, हमारे वक्त पर नहीं बजेगी।’

व्यवसायी और साम्राज्यवादी समय को भी अपने हाथ का खिलौना बनाना चाहते हैं। उनकी इच्छा है कि जगत की हर चीज़ उनकी इच्छानुसार ही चले। भीष्म साहनी यहाँ अपनी समझ, प्रगतिशीलता, मलिख्योन्मुखता का परिचय दे जाते हैं कि समय सहित जीवन का आत्मिक गठन शक्तिसाधकों का दास नहीं है।

हार्वर्ड फास्ट ने कहा है कि किसी भी सच्चे लेखक की प्रधान चिंता उसकी कला तक ही सीमित नहीं रहती। इस प्रकार की आबद्धता अंतर्मुखी अति सजग और यहाँ तक कि निम्नस्तरीय भी होती है। वह कुछ भी सोचे, एक गंभीर लेखक की सरबद्धता मनुष्य जाति, मनुष्य के जटिल, अंतर्हीन और विविध मानवीय संबंध, उसके संघर्षों, सपनों और इच्छाओं के प्रति होती है। किसी भी गंभीर लेखक का मुख्य प्रयास इन जटिलताओं के बीच से किसी भी तरह की समझ विकसित करना, कारण जानना और आप मानें तो सितारों तक पहुँचाने वाली उस सीढ़ी की झलक दिखाना है, जिस पर किसी दिन मनुष्य चढ़ पाने में जरूर सफल होगा।’ (शरदेन्दु कुमार का अनुवाद)

हानूश ने रचनाकार का मन पाया है। एक ऐसे बड़े पेंटर की तरह जो घर चलाने के लिए कभी गुरु, पीर-पैगम्बर तीर्थ स्थान की पेंटिंग तो बनाता है परंतु मन व्यावसायिक पेंटिंग में नहीं मौलिक उद्भावना और मौलिक रंग सम्मिश्रण में जमता है। हानूश ताले बनाता जरूर है परंतु मन घड़ी की टिक-टिक सुनने की तरफ टिका है। ऐसे लोग उनियावी चालाकी-चुस्ती और फिक्र से दूर होते हैं। इस कोण से देखने पर वह एक पराजित व्यक्ति नजर

आता है। आर्थिक समस्यायें गला पकड़ने वाली हैं। पत्नी काव्या कहती है कि अगर घड़ियाँ बनाने का शौक था तो फिर ब्याह नहीं करना चाहिए था। सामंती समाज और रचनात्मक तृष्णा के बीच भटकते हुए जीवन के वसंत गुजर गये। (इस घड़ी को बनाने में ही मेरी जवानी ढल गयी) सफलता मिली तो राजतंत्र ने पैर सी सीढ़ी छीन ली। अंधेपन की सजा भोगते हुए आत्महत्या की कोशिश और फिर घड़ी तोड़ देने की कोशिश उसकी आहत मानसिकता का प्रमाण है। परंतु भीष्म साहनी इस पराभव को स्थायी नहीं रहने देते। हानूश अपनी टूटती रचना को पुनः एक रचनात्मक आधार देता है। फिनिक्स की तरह जो अपने विनाश को जीवन में बदल देता है।

जब ‘हानूश’ नाटक की रचना हुई तब हिंदी नाटक रंगमंच के प्रश्नों का उत्तर देने की योग्यता प्राप्त कर गया था। अब वह रंगमंच को उस तरह से दो टूक जवाब नहीं दे रहा था कि रंगमंच को उसके नाटक के अनुरूप होना होगा। ‘हानूश’ नाटक यदि घड़ी का सृजन करने वाले की दास्तां बयान कर रहा है तो रंगमंच समय के रंगों को अपने भीतर समाहित कर देश समाज को सुवासित करता है। इप्ता के संस्कारों में विकसित हुआ भीष्म साहनी का मन नाटक के पठन-पाठन से नहीं, रंगमंच पर जौहर दिखाने का था। ‘कबिरा खड़ा बाजार में’ की पहली प्रस्तुति का श्रेय रैना को है तो ‘हानूश’ की रंगमंच प्रस्तुतिकरण का श्रेय राजेन्द्रनाथ को है। भीष्म साहनी रंगमंच की सुविधा के लिए सदा प्रस्तुत रहे हैं- ‘रंगमंच पर इसे पेश करते समय भी राजेन्द्रनाथ ने अनेक बहुमूल्य सुझाव दिये, नाटक की भाषा के बारे में भी और नाटक को और ज्यादा चुस्त और गतिशील बनाने के लिए भी। मैंने उनके अधिकांश सुझावों को स्वीकार किया है, नाटक में से कुछेक अनावश्यक प्रसंग निकाल या बदल दिये गये हैं और भाषा को बोलचाल की भाषा के और ज्यादा नजदीक लाने की कोशिश की है। नाटक या कहानी के पाठक के तौर पर कोई व्यक्ति एक संवाद के गूढ़ार्थ तक उतरने के लिए उन पंक्तियों को दुबारा तिवारा पढ़ सकता है परंतु एक दर्शक के स्तर पर उसे उस संवाद विशेष से एक बार ही गुजरना होता है। सो उसके लिए रंगमंच के अनुसार विशेष सावधानी की जरूरत

रहती है। नाटक की पांडुलिपि लेखक ही तैयार करता है परंतु मंच पर प्रस्तुतिकरण के समय यह सामूहिक कर्म ही जाता है। निदेशक का निर्देशन, अभिनेता का अभिनय, संगीतकार का स्वर लहरियो, दृश्य संयोजन का तकनीकी कार्य ही नहीं, आजकल रोशनी का समायोजन भी प्रभाव में काफी सहायक होने लगा है। शायद इसीलिए एक अंग्रेजी नाटक संग्रह का नाम 'बिफोर द फुटलाट्स' रखा गया। अशोक वाजपेयी का यह कथन उल्लेखनीय है, "हम यह न भूल जायें कि एक तरह से दूसरे कला माध्यम अर्थात् रंगेतर कला माध्यम भी उसके लिए दूसरे हैं- नाटक अक्सर दूसरा ही लिखता है, प्रकाश व्यवस्था और दृश्यबंध वेशभूषा आदि दूसरों के लिए होता है और निर्देशक और अभिनेता स्वयं एक-दूसरे के लिए 'दूसरे' ही हैं। किसी और कला माध्यम पर दूसरे इतने छाये नहीं रहते जितने की रंगमंच पर। एक दिलचस्प अर्थ में रंगमंच हमेशा ही दूसरों का माध्यम रहा है।"

'हानूश' रंगमंच पर खेला जाने वाला ऐसा सफल नाटक है जिसका आरंभ निराशा से हुआ था। भीष्म साहनी नाटक लिखकर बड़े भाई फिल्म अभिनेता बलराज साहनी के पास ले गये थे। बलराज साहनी को स्क्रिप्ट प्रभावित नहीं कर पायी। उन्होंने लौटाते हुए नाटक के पचड़े से दूर

रहने का प्रस्ताव दिया था। भीष्म साहनी निराश जरूर हुए परंतु अपने नायक हानूश की तरह पराजित नहीं हुए। राजिन्द्रनाथ के निर्देशन में मंचन ने सारे भ्रम दूर कर दिये। वजह थी भीष्म जी का नाटकीय लगाव। वह कथा को दृश्यत्व ही नहीं देते, नाटककार की रचनात्मकता का एहसास भी करवाते हैं। वह मुख्यतः आंदोलनधर्मी है प्रचलित रंगमंचीय संरचना और स्वरूप को तोड़कर नये फार्म की तलाश में रहते हैं, जिस पर लोकनाट्य का प्रभाव नजर आता है।

'हानूश' नाटक के निदेशक, अभिनय करने वाले विभिन्न पात्र, तकनीकी सहयोगी, यह पूरा गुप एकजुट होता है हानूश के भीतर के अपराजेय रचनाकार का संकल्प दिखाने के लिए।

भीष्म साहनी एक कलाकार के गर्दिश भरे दिनों को बखूबी जानते हैं। जब हानूश को राजकीय सम्भार मिलने की घोषणा होती है तब दरबार जाने के लिए उसे मंगनी के वस्त्र पहनने पड़ते हैं तब एक सामान्य सा दिखने वाला संवाद दूर तक गूंजता रहता है- वाह, बहुत अच्छे जूते हैं। जूता पादरी का, लबादा व्यापारी का।' संवाद की व्यजना मारक है। भीष्म साहनी की तथा हानूश की संवेदनात्मक कला नाटक में मूर्त हो गयी है।

संपर्क :

444ए, गजा गार्डन, पो. ऑफिस बस्ती बाबा खेल
जालंधर- 144021, मो. 09463632855

अपने वजूद के लिए संघर्षरत स्त्रियाँ और सामकालीन कविता डॉ. शशि शर्मा

एक वह समय भी था जब स्त्री घर की चारदीवारी में कैद दीवारों की तरह मौन रहा करती थी, उसकी पहचान उसके नाम से नहीं बल्कि उसके रिश्तों से होती थी। वह फलां की बेटी, फलां की बहन, फलां की बहू, फलां की पत्नी, फलां की माँ के रूप में जानी जाती थी। उसकी अपनी भी कोई स्वतंत्र पहचान है, अपना भी कोई नाम है, इस सच्चाई से वह स्वयं अपरिचित थी। यह भी कहा जा सकता है कि एक साजिश के तहत उसे उसकी स्वतंत्र पहचान से अपरिचित रखा जाता था। पर समय परिवर्तन और शिक्षा के प्रभावस्वरूप स्त्री ने घर की चारदीवारी लांघना शुरू किया और अपनी स्वतंत्र पहचान के प्रति सजग और सचेत हुई। वह पुरुष के कदम से कदम मिलाकर चलने लगी, अपनी इच्छाओं एवं आकांक्षाओं को मुखर अभिव्यक्ति देने लगी। सदियों से चली आ रही पुरुषाधिकारिक व्यवस्था में स्त्री का पुरुष के कदम से कदम मिलाकर चलना एक क्रांतिकारी कदम अवश्य था पर यह पुरुषवादी कुत्सित संकीर्ण मानसिकता का पतन या परिवर्तन बिल्कुल नहीं था। यह सच है कि पारंपरिक रूप से मुक्त स्त्री को पुरुष समाज में स्थान मिला पर सोचने वाली बात यह है कि क्या स्त्री सचमुच पुरुषवादी संकीर्ण मानसिकता से मुक्त हो रही थी? अखबारों के पन्ने और न्यूज चैनलों पर आए दिन स्त्री-उत्पीड़न की जो तस्वीरें देखने को मिलती हैं, उससे तो यही प्रतीत होता है कि शिक्षित हो या अशिक्षित, नौकरीपेशा हो या घरेलू, आधुनिक हो या ग्रामीण-स्त्री आज भी पुरुषवर्चस्ववादी संकीर्ण मानसिकता के कारण पीड़ित और अवहेलित है। जब-जब वह अपने वजूद को सशक्त बनाने के लिए खड़ी हुई। उसके होंसले को परास्त करने की साजिश कभी प्रत्यक्ष तो कभी अप्रत्यक्ष रूप में होती रहीं।

आज स्त्री कई भूमिकाओं को एक साथ निभा रही हैं। घर, परिवार, कैरियर सबमें सामंजस्य बैठा रही है, बावजूद इसके उसकी महत्ता को 'अंडरएस्टीमेट' किया जाता है। उसकी प्रतिभा, उसके विलक्षण सोच, उसके कृतित्व को खुले दिल से सराहने के बजाए उसे मानसिक और दैहिक रूप से प्रताड़ित किया जाता है। स्त्री भी मनुष्य है, उसका भी एक अलग सत्ता है, उसका भी अपना वजूद है, इस सोच से हमारा समाज आज भी कोसों दूर है। 'स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ' नामक पुस्तक

में रेखा कस्तवार लिखती है- “आज भी मनुष्य’ की अवधारणा में स्त्री और पुरुष दोनों को शामिल नहीं किया जाता। सचेत रूप में स्त्री को इससे अलगाने की कोशिशें खत्म नहीं हुई हैं।”

समाज स्त्री की सार्थकता केवल घर-परिवार की गुलामी में समझता है। उसकी शिक्षा, उसकी, आकांक्षा, उसकी इच्छा का कोई महत्त्व नहीं। किस चालाकी से उसके दायरे को कर्तव्य के नाम पर सीमाबद्ध करने की चेष्टा की जाती है इसे समकालीन कवि रघुवर सहाय की बहुचर्चित छोटी कविता ‘पढ़िए गीता’ से सहज ही समझा जा सकता है-
‘पढ़िए गीता/ बनिए सीता/ फिर इन सबमें लगा पलीता/
किसी मूर्ख की हो परिणीता/ निज घर बार बसाइये।/ होय हँटीली/ आँखें गीली/ लकड़ी सीली, तबियत ढीली/ घर की सबसे बड़ी पतीली/ भरकर भात पसाइये।”

कविता का कलेवर लघु होते हुए भी स्त्री का समग्र इतिहास इस कविता में समाहित हो गया है। एक स्त्री की पहचान उसके पति, बच्चे, सगे-संबंधी और घरेलू आपाधापी से हैं। इससे इतर भी उसका वजूद है, यह स्वीकारोक्ति अभी भी सीमित है।

अपने वजूद के लिए लड़ती स्त्री का संघर्ष असीम है। जीवन में स्त्री की अनिवार्यता को समझने के बावजूद पुरुष उसकी महत्ता को सम्पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं करना चाहता है। एक पत्नी और माँ के रूप में स्त्री पुरुष के जीवन को परिपूर्ण करती है, बावजूद इसके उसे हमेशा हाशिये पर रखा जाता है। समकालीन कवयित्री जया जादवानी इस पहलू पर लिखती है- “जैसे हाशिये पर लिख देते हैं/ बहुत फालतू शब्द और/ कभी नहीं पढ़ते उन्हें/ ऐसे ही वह लिखी गयी और/ पढ़ी नहीं गयी कभी/ जबकि उसीह से शुरू हुई थी/ पूरी एक किताब।”

‘औरतें’ शीर्षक कविता में स्त्री को परिभाषित करती हुई चित्रा सिंह लिखती है- “जिंदगी के/ चाक पर घूमती/ गढ़ती हैं/ रोज नए आकार/ चक्की पर पिसती/ चुन जैसी बारीक.../ चूल्हे की आँच में सिकती दोनों पहर/ आखिरी बूँद सी पसीने की/ दुल जाया करती यूँ ही जमीन पर/ कई-कई बार धुली हुई/ सफेद चादर सी/ बिछ जाया करती हैं/ बिस्तर पर।”

स्त्री दैहिक और मानसिक सुख की कारक होती है। सुबह से रात तक वह अलग-अलग भूमिकाओं को निभाती हुई परिवार वालों को खुशियाँ देती है पर बदले में मिलती है तो केवल उपेक्षा और नित नई जिम्मेदारियाँ।

आलोचक ए. अरविंदाक्षन लिखते हैं- ‘स्त्री अपने पारिवारिक दायित्वों से मुक्त नहीं होती है। यहीं से उसकी अस्वतंत्रता का आरंभ होता है। इसे पोषित करने वाले कई घटक समाजवादी कहे जाने वाले समाजों में भी मिलते हैं। इस कारण परिवार, शैक्षिक संस्थाएँ और संचार माध्यम आदि स्त्री संबंधी अपनी पारंपरिक मान्यता को ही बढ़ावा देते रहते हैं। तमाम प्रकार की प्रगतिशील दृष्टियों के बावजूद ये स्त्री को परोक्षतः कटघरे में पाना चाहते हैं जिसे तोड़ना आसान नहीं।”

स्त्री का निजत्व खतरे में है। वह बेटी है, बहन है, पत्नी है, बहू है, माँ है पर सत्री नहीं है। उसका अपना ‘स्पेस’- नहीं है। उसकी अपनी इच्छा-आकांक्षा और जरूरतें नहीं हैं। यहाँ तक कि उसका घर भी उसका नहीं होता। जिस घर में वह पलती-बढ़ती है और जिस घर में वह विवाह पश्चात जाती है, कहीं भी वह अपना ‘स्पेस’ नहीं पाती है। घर उसके लिए महज एक कर्तव्य गृह है, जहाँ उसे केवल दूसरों का ख्याल करना है। ज्योत्सना लिखती है- वह उसका घर है/ जहाँ वह बर्तनों के साथ बजती है/ चूल्हे के साथ जलती/ गीली स्मृतियों के साथ धुँआँती आती है।”

घरेलू स्त्रियाँ ही नहीं नौकरीपेशा उच्च शिक्षित स्त्रियाँ जो अपना वजूद गढ़ने की ओर अग्रसर होती हैं, उन्हें भी बार-बार पुरुष प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है। उनके पहनावे को पुरुष की भोगलोलुप मनोवृत्ति का कारण ठहराया जाता है पर विचारणीय यह है कि क्या सिर्फ आधुनिक पहनावे वाली नौकरी पेशा स्त्रियाँ ही पुरुषों की मानसिक और दैहिक यौन-हिंसा का शिकार होती हैं? नहीं। सच्चाई तो यह है कि स्त्रियाँ पहनावे की वजह से नहीं बल्कि पुरुष की ओछी मानसिकता के कारण हिंसा की शिकार होती हैं। पुरुष के लिए स्त्री सिर्फ ‘उपभोग’ की वस्तु है। वह सिर्फ उसे भोगना चाहता है, दैहिक नहीं तो मानसिक तरीके से ही सही। समकालीन कवि पवन करण की कविता ‘टायपिस्ट’ इस संदर्भ में अवलोकनीय है- “हमसे कोई ऐसा नहीं/ जो

उसकी और अपने साथियों की/ नजर बचा-बचाकर/ उसके संतुलित अंगों की उत्तेजना को/ अपने अंगों में/ करता न रहता हो हरदम/ महसूस/ उसे इस बात का कतई पता नहीं/ हम उसके साथ कितनी ही बार/ कल्पनाओं और सपनों के/ चिर-युवा बिस्तर पर कर चुके हैं सहवास'' सुधीर पचौरी 'स्त्री देह के विमर्श' में पुरुषों की इस भोगवादी मानसिकता पर लिखते हैं- "दफ्तरों, कार्यालयों में स्त्री सहभागिता ज्यों-त्यों बढ़ रही है। स्त्री के प्रति उत्पीड़न भी उसी अनुपात में बढ़ रहा है। मर्दवाली लोगों ने छेड़ने के अपने शस्त्र के नए-नए संस्करण गढ़े हैं।"

समय परिवर्तित हो गया है परंतु स्त्री के प्रति पुरुष की सामंती दृष्टि आज भी व्याप्त है। वह घर से बाहर तो निकल चुकी है किन्तु अस्तित्व गढ़ने के क्रम में पग-पग पर उसे विरोध के सम्मुखीन होना पड़ता है। पुरुषतांत्रिक व्यवस्था हर कदम पर उसे रोकने को तत्पर है। समकालीन कवयित्री मनीषा झा लिखती है- "मैं उड़ान भरने की राँ में थी/ कि काट लिए गए मेरे पंख/ मैं कुछ कहने को उठी थी / कि पड़ने लगी गालियों की बौछारें/ उन बौछारों के बीच/ दब गई मेरी आवाज।"

अपने वजूद की लड़ाई लड़ती औरतों के लिए हर कदम पर रुकावट है। वह सिर्फ भोग की वस्तु है, प्रेम की वस्तु नहीं। उससे प्रेम किया जाता है, उसके मन को संतुष्ट करने के लिए नहीं बल्कि अपनी भोगलोलुपता को तुष्ट करने के लिए। स्त्री जब तक उसक देह सौंपती रहती है, प्रेम बना रहता है पर जैसे ही वह देह के दायरे से मुक्त होना चाहती है, उसे बदनाम किया जाता है उसके ही प्रेमी द्वारा। आज प्रेम को सरेआम नंगा किया जा रहा है तकनीकी माध्यमों द्वारा। उदय प्रकाश की कविता 'औरतें' प्रेम संदर्भ में स्त्री की त्रासदी के विभिन्न पक्षों को सूक्ष्मता से अनावृत करती है- "एक औरत का चेहरा संगमरमर जैसा सफेद है/... एक सीलिंग की कड़ी में बाँध रही है अपना दुपट्टा/ उसके प्रेमी ने सार्वजनिक कर दिए हैं उसके फोटो और पत्र।"

स्त्री-शोषण के एक नए पक्ष को अंजना वर्मा की 'एक साजिश हो रही है' शीर्षक कविता में देखा जा सकता है। अड़तीस वर्ष की होने वाली अंजना की आकांक्षा माता-

पिता की स्वार्थवृत्ति के आगे लुटती रहती है। बहुराष्ट्रीय कंपनी की तमाम सुख सुविधाओं से लैस अंजना माता-पिता का बेटा बनकर ही रह जाती है। माता-पिता उसे बेटा संबोधित ही नहीं करते बल्कि उसकी स्वाभाविक जरूरतों और इच्छाओं की अनदेखी कर उसे बेटा ही समझने लगते हैं। स्त्री की अपनी जरूरतें होती हैं। उस जरूरत को शिद्दत से महसूस करती अंजना का सब्र उम्र के अड़तीसवें पायदान पर टूट जाता है- "उसे शिद्दत से महसूस होता है/ कि वर्षों से शापा जाता रहा है उसे/ ... 'अखबार के पन्नों में वैवाहिक देखते ही/ वह चीखना चाहती है- अरे! किसी को याद भी है मैं बेटा हूँ?'"

जन्मदाता के स्वार्थी, असंवेदनशील रवैये का यह दृश्य वर्तमान समय का एक भयावह यथार्थ है। यह कटु सच्चाई है कि वर्तमान समय में माता-पिता अपने सुख के लिए अच्छे पद पर विराजमान बेटी की स्वाभाविक जरूरतों को जानबूझकर अनदेखा ही नहीं कर रहे, उसे जबरन बेटा बने रहने के लिए मजबूर भी कर रहे हैं।

स्त्री-सुरक्षा आज एक गंभीर प्रश्न बन गया है। निजी संबंधियों द्वारा लड़कियों को बेचने, उनका यौन शोषण करने की घटना में निरंतर इजाफा हो रहा है। जवान होती लड़की को अपने घर के पुरुषों से चाहे वह उनका जैविक पिता ही क्यों न हो सुरक्षित रख पाना अत्यंत कठिन होता जा रहा है खासकर तब जब वह आर्थिक रूप से विपन्न हो। आज स्त्री पुरुष के लिए विपन्नता दूर करने का जरिया बन रही है। भगवत रावत की 'भरोसा' कविता स्त्री-शोषण के इस त्रासद पहलू पर आलोकपात करती है- "वह बरतन वाली बाई/ ...उसके मैले से झोले में / उसकी लड़की की/ बहुत पुरानी फोटो है/ जब वह लड़की थी/ तेरह या चौदह की/ वह कहती है/ छह-सात साल पहले/ उसके / अपने पानी घरवाले ने/ अपने ही गुंडे भाई ने/ मिलकर/ उसकी लड़की को बेच दिया।"

देहप्रेमियों द्वारा प्रेम के नाम पर तेजाब फेंकने, यौन-शोषण करने की घटना जिस तीव्रता से बढ़ रही उससे प्रत्येक सुंदर बेटी का पिता भयभीत है। समकालीन कवि पवन करण अपनी कविता 'एक खूबसूरत बेटी का पिता' में जिस सूक्ष्मता और गंभीरता के साथ एक पिता की

मानसिक स्थिति का चित्रण करते हैं, वह समाज और व्यक्ति की निकृष्टता का बोध कराती है। पंद्रह साल की कच्ची उम्र में सच्चा प्रेम के नाम पर देह को समर्पण करने या करवाने की चिंता हर पिता की चिंता बन जाती है। इस उम्र में प्रेमावेग गलत रास्ते पर चल पड़ना स्वाभाविक है और इसी स्वाभाविकता के कारण कवि को अपनी १५ साल की बेटी की सुंदरता चुभती है—
“प्रेम की तीव्रता एकांत चाहती है और वह/ प्रेमाभिव्यक्ति से देहाभिव्यक्ति की ओर बढ़ती है/ और प्रेम में यह बढ़ना हो ही जाता है/ मैं नहीं कहता कि देह अपवित्र चीज है/ लेकिन वह पवित्र भी नहीं उतनी/ कि हर समय उसकी चिंता में घुलते रहा जाए।”

अपने वजूद को कायम रखने की जद्दोजहद से पीड़ित स्त्री का चित्र अरुण कमल की ‘स्वप्न’ कविता में देखा जा

सकता है— *“खूँटे से बंधी बछिया—सी जहाँ तक रस्सी जाती, भागती/ गर्दन ऐंठने तक खूँटे को डिगाती/ वह बार बार भागती रही/ बार बार हर रात एक ही सपना देखती/ ताकि भूल न जाए मुक्ति का स्वप्न/ बदले न भी जीवन तो जीवित बचे बदलने का यत्न।”*

स्त्री के इसी प्रयास के फलस्वरूप आज थोड़ा-बहुत पहरवर्तन आया है। प्रत्येक क्षेत्र में उसकी उपस्थिति देखने को मिल रही है। शिक्षा, साहित्य, कला, वाणिज्य से लेकर सेना, चिकित्सा, खेल आदि सभी जगहों पर वह देश और परिवार का मान बढ़ा रही है पर विडंबना यह है कि उन्हें आज भी उन्हें वह अपेक्षित सम्मान नहीं मिल रहा जिसकी वह अधिकारिणी है। आज भी उन्हें समाज और परिवार द्वारा दैहिक और मानसिक प्रताड़ना का शिकार होना पड़ रहा है।

संपर्क:

द्वारा डॉ. राजेंद्र प्रसाद सिंह, अमरावती, दलवीर नेपाली स्कूल के पास,
 गुरुंग बस्ती, प्रधान नगर, सिलीगुड़ी- 734003

मैथिलीशरण गुप्त के पत्र

डॉ. वर्षा गायकवाड

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' के माध्यम से काव्य-रचना के क्षेत्र में पदार्पण करने वाले मैथिलीशरण गुप्त उत्तरोत्तर विकास करते हुए राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-धारा के महत्त्वपूर्ण कवि बन गए। 'भारत-भारती' ने अभूतपूर्व ख्याति दिलाई तो 'साकेत' ने उन्हें महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। ऐतिहासिक व्यक्तियों के पत्रों के आधार पर पद्य में 'पत्रावली' की रचना करने वाले गुप्त जी के पत्रों का कोई संग्रह उपलब्ध नहीं होता। सन् १९५९ में प्रकाशित (प्रकाशक- राष्ट्रीय मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन समिति, कलकत्ता) 'राष्ट्र कवि' मैथिलीशरण गुप्त अभिनंदन ग्रंथ' के कुछ पत्र संकलित हैं। इन्हीं के आधार पर यह विवेचन किया जा रहा है।

वैयक्तिकता : कला भवन के स्वामी एवं संग्रहकर्ता राय कृष्णदास से मैथिलीशरण गुप्त के घनिष्ठतम संबंध थे। गुप्त जी द्वारा उन्हें लिखे गए कुछ पत्र उपलब्ध हैं जो उपर्युक्त अभिनंदन ग्रंथ में संकलित हैं। दि. ३-१२-२१ के पत्र में गुप्त जी ने अपने परिवार के संबंध में महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है। अपनी आर्थिक स्थिति के बारे में लिखते हैं- 'मध्य वित्त के गृहस्थ थे। जमींदारी थी, पैसा था और कुछ भी कुछ था- क्या था नहीं कह सकता। अब कुछ नहीं। जो हमारी वृत्ति थी व्यापार उसी में सब स्वाहा हो गया। अब केवल ऋण रह गया। आगे अपने पिता के बारे में लिखते हैं- 'हम सब छोटे थे। पहले मंझले काका मरे। वे जमींदारी का काम करते थे। पिता ने इन्सालर्वेंसी करके और लखपती रहने की अपेक्षा ऋण चुकाने के लिए अपने आप को बेच देना अच्छा समझा। जमींदारी जो १३ गांवों में थी बेच दी गयी।

मंझले काका ने भी शांति पाई, उसके बाद पिताजी गये- जिस सम्मान के साथ आये थे, उसी सम्मान के साथ। धन तो नहीं, पर उनके इष्टदेव ने उनका यश और मान रहने दिया। श्वास रोग के मरीज अपने कक्का के परिश्रमी स्वभाव की चर्चा करते हैं- "रात के दो-दो बजे तक स्टेशन पर रहकर उन्होंने अपने सामने माल की गाड़ियाँ लदवाईं। लाभ भी खूब उठाया। परंतु वह भी चंचला लक्ष्मी का हम लोगों के भाग्य के साथ मानो एक व्यंग्य परिहास था। फिर हजारों की हानि हुई। जो साझीदार था, वह पल्ले झाड़कर खड़ा हो गया। अधिकांश हमारे ही माथे पर पड़ा। कक्का बड़े साहसी रहे हैं- बड़े हेकड़ भी। पर मनुष्य ही हैं। इस बार वे भी विवश हो गये। श्वास का रोग शुरू हो ही गया था, वह बढ़ चला। पंद्रह बरस हो गये। तथापि

किसी आशा से प्राण उनके अटके रहे। मैं तो शायद १५ दफे मर चुकता यदि मुझे इतना सहन करना पड़ता। कर्ज चुकाने के लिए बहुत सारी संपत्ति बेच देनी पड़ी- 'थोड़ी सी जमींदारी रह गई थी। उसी से और कुछ नाम मात्र के व्यवसाय से संसार चलने लगा। जब लेनदारों की ज्यादाती हुई तब बाकी की जमींदारी भी दे दी गई। बहुत मकान वगैरह भी थे। वे भी। अब रह गया १५-२० हजार का ऋण और जमींदारी में चिरगाँव का हिस्सा और एक आध जगह की कुछ जमीन। यह इतना है कि हम ऋण चुका दें। पर चिरगाँव का हिस्सा प्राणपण से बचाना चाहते हैं। वही गाँव में हमारे सम्मान की चीज है, इसी कारण से। गुप्त जी ने स्वयं का पुस्तक प्रकाशन व्यवसाय शुरू किया। इसका भी हाल बयान किया है- 'पुस्तकों के व्यवसाय से काम निकल जाता है। पर खर्च का ही। देने की सुविधा नहीं। तुम्हें इन बातों का आभास मैं थोड़े में कई दफे दे ही चुका हूँ, पर आज फिर कह रहा हूँ कहने दो।'

अपने लेखन के संबंध में गुप्त जी रायकृष्णदास और वार्हस्पत्य जी की राय लिया करते थे। उनके द्वारा सुझाए गए संशोधनों को मान्य करते थे। राय साहब को लिखे गए पत्र में इसकी एक झाँकी मिलती है- 'मुझे बताइये कि अब मैं क्या करूँ? उर्मिला के लिए तो कुछ और ठहरने की इच्छा है। पत्रावली के विषय में कुछ निश्चित कर दीजिए तो उसे ही लिख डालूँ। भारती के लिए आपने बड़ा कष्ट स्वीकार किया। किस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करूँ। संशोधन प्रायः सब ठीक है। उनके अनुसार सुधार दूँगा। वार्हस्पत्य जी ने बड़ी कृपा की। यदि आप कृपा करके मेरी ओर से वकालत न करते तो मुझे ऐसी दशा में बड़ी असुविधा होती। क्योंकि जब तक वार्हस्पत्यजी को पुस्तक दिखा न लेता, तब तक मैं निश्चित न होता और इस समय मेरा काशी आना हो नहीं सकता। अतएव पुस्तक के छपने में बड़ा विलम्ब होता। पर आपने मेरी लाज रख ली। बीच-बीच में अपनी अस्वस्थता का भी जिक्र करते हैं- 'तबीयत अच्छी न रहने के कारण कुछ समय के लिए मैंने लिखना बंद कर दिया है। कोई तीन महीने में बहुत लिखे होंगे तो २० पद्य।... देखिए, कब तक तबीयत ठीक होती है। वैसे तो कोई बीमारी मालूम नहीं होती है, पर विचार करने से,

मस्तिष्क को जोर देने से, सिर में दर्द हो उठता है। बड़ी तकलीफ हो जाती है। फिर कुछ लिखते-पढ़ते नहीं बनता।

श्रीमती शांति मेहरोत्रा को लिखे गए पत्र में गुप्त जी ने अपने स्वास्थ्य की चिंतनीय दशा के बारे में लिखते हैं- 'मेरा शरीर अब तनिक भी कष्ट नहीं झेलता। यहाँ और यहाँ के आस-पास नित्य कुछ हुआ करता है। निमंत्रण भी आते रहते हैं। लोक स्वयं आकर चलने का आग्रह करते हैं। पहले दो-चार बार मैं गया- आया भी परंतु गड़बड़ा जाने से अब प्रायः कहीं नहीं जाता।

वैचारिकता: राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी तुलसीदास के मानस के भक्त थे। गुप्त जी का 'साकेत' पढ़ने के बाद यरवदा सेन्ट्रल जेल से उन्होंने दि. ५ अप्रैल १९३२ को कवि को पत्र लिख अपनी प्रतिक्रिया से अवगत किया। उर्मिला के विस्तृत विरह वर्णन आदि को वे जरूरी नहीं समझते थे - 'मानस एक धर्मग्रंथ है। प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक वाक्य में सीता सीताराम का ही जप जपाया है। 'साकेत' में भी मैं वही चीज देखना चाहता था। इसमें कुछ भंग उपरोक्त कारण के लिए हुआ। इसके उत्तर में गुप्त जी ने रामनवमी संवत् १९८९ को बापू को एक विस्तृत पत्र लिख अपनी भूमिका स्पष्ट की- 'मैं नम्रता पूर्वक आपको विश्वास दिलाता हूँ कि तुलसीदास का दोष मानकर अथवा उनके स्पर्धा करने के लिए मैंने उर्मिला का वर्णन नहीं किया। आपके शब्दों में उनके इस अनुपम धर्मग्रंथ ने ही मुझे इस ओर प्रेमाभिभूत करके आकर्षित किया है। गुप्त जी ने उर्मिला से कहवाया है- 'मुझे भूलकर ही त्रिभुवन में विचरें मेरे नाथ- 'परंतु मुझे न भूले उनका ध्यान'। गुप्त जी बापू से निवेदन करते हैं- 'साकेत' के एक कोने में बैठकर इतनी-सी प्रार्थना करने का स्थान भी उसे दुर्लभ होगा? वह रोती है, परंतु आप की किसी मर्यादा का भंग तो नहीं करती। जिस प्रियतम के लिए वह रोती है, उसके लिए स्वयं उसी को जाने देती है। सीता से जैसी शिक्षा उसने पाई है, वैसे ही गुरु दक्षिणा भी उन्हें चुकाई है। मेरी तो यह भावना है कि यदि स्वर्ग में भगवान की करुणा के लिए स्थान है, तो 'साकेत' में उर्मिला के विषाद के लिए भी वह निश्चित है। गुरुजी उर्मिला के विरह को एक नये रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं- 'साकेत' में मैंने कालिदास की

प्रेरणा से, उस प्रेम की एक झलक देखने की चेष्टा की है, जो भोग से आरंभ होकर वियोग झेलता हुआ, योग में परिणत हो जाता है। बापू ने दि. २३-४-३२ के पत्र में लिखा- 'यह पत्र नहीं है, परन्तु काव्य है। आपने मुझको हरा दिया है। मैं आपकी बात समझ गया हूँ और उस दृष्टि से उर्मिला के विलाप का स्थान है। अपने दृष्टिकोण को तर्कसंगत सिद्ध करने की अद्भुत कला गुप्त जी में है।

समकालीनता: असहयोग आंदोलन के दौरान तोड़फोड़ करने के अपराध में चिरगाँव में कई लोगों के साथ गुप्त जी का भतीजा रघुवीर शरण पकड़ा गया। झाँसी से दि. ३-५-२० को राय साहब को लिखे पत्र में गुप्त जी ने इसे 'भीषण कांड' कहते हुए लिखा है- 'पारसाल चिरगाँव स्टेशन पर से ३-४ मील पर तार कट गया था। सुना है कि एक आदमी ने बयान किया है कि तार हमने काटा था। हमारी सभा में जिसमें तार काटने की बात तय हुई थी ये लोग शामिल थे अभी ठीक नहीं मालूम क्या बात है। आज वर्माजी का वकालतनामा लग जाएगा फिर, सब हाल मालूम होगा। आजकल हम लोग आफत में हैं? न मालूम क्या हो। पुलिस मुझ पर भी खड़पाणि है पर अभी तक कोई बात नहीं।

'प्रताप' के संपादक गणेशशंकर विद्यार्थी अपने राष्ट्रप्रेम के लिए विख्यात थे। उनका भी जिक्र एक पत्र में है- 'इधर एक घटना और हो गई है। परसों शिवनारायण कानपुर से आये थे। तुम्हें मालूम ही है कि १०८ दफा के

अनुसार गणेशजी और शिवनारायण जी पन्द्रह-पन्द्रह हजार की जमानतें दिये हुए हैं। ४-५ दिन हुए, गणेश जी ने मजिस्ट्रेट को नोटिस दे दिया है कि जब हम रायबरेली के मुकदमे में फँसे थे, तब सरकार ने हमारे हाथ फँसाने के लिए अन्यायपूर्वक हमारे ऊपर १०८ का प्रयोग किया जिसमें हम उधर पैरवी न कर सकें और सरकारी पक्ष की बातें प्रकट न होने पावें। चूँकि हमें अभीष्ट था कि सच्ची बातें जनता के सामने आ जाँय, इसलिए इच्छा न होन पर भी हमें मुकदमा लड़ना पड़ा और इसीलिए जमानत भी देनी पड़ी। ये लोग अपनी जमानतें रद्द कर जेल जाने को प्रस्तुत हैं। गुप्त जी को 'प्रताप' का अस्तित्व संकटग्रस्त दिखाई देता था। 'साकेत' को लेकर महात्मा गांधी से पत्र-व्यवहार की चर्चा हम कर चुके हैं। वह प्रकरण भी समकालीनता के अंदर ही समाविष्ट होगा।

भाषा शैली: भाषा एकदम व्यावहारिक एवं बोलचाल की है जैसे पत्र लेखक प्राप्तिकर्ता के साथ आमने सामने बैठकर बातचीत कर रहा हो। आम बोलचाल में प्रचलित उर्दू के शब्दों एवं वाक्य खंडों का प्रयोग भी हुआ है- जैसे 'फौरन से पेशतर'। कभी-कभी कोई पत्र कविता में लिख देते हैं- जैसे दि. १०-१०-१९ को रायसाहब को मसूरी से भेजा गया पत्र-

यार, दूसरी बार मसूरी देखी मैंने,

देखी भरसक, किन्तु न पूरी देखी मैंने।

बुन्देलखंडी शब्दों के प्रयोग एकाध स्थलों पर मिलते हैं।

संपर्क :

प्लॉट नं. 8, गली नं. 1, रुक्मिणी गार्डन्स के पास,
वानलेसवाडी, सांगली, मो. 9422154117

अज्ञेय की इतिहास दृष्टि डॉ. नामदेव जासूद

अज्ञेय के अनुसार “भारतीय प्रतिभा का विदेशी आलोचक प्रायः कहता है कि भारतीय को इतिहास का बोध नहीं होता— उसमें ‘सेंस ऑफ हिस्ट्री’ की कमी है। जिस अर्थ में विदेशी यह बात कहता है उस अर्थ में शायद यह सच भी है। इसका एक कारण तो यह है कि पश्चिम का और हमारा कालबोध अलग-अलग प्रकार का है, हमारी काल की परिकल्पना अलग-अलग है। इतिहास बोध के लिए अनुक्रमिकता अनिवार्य है यानी समय की सीधी रेखा के रूप में देखना आवश्यक है। हम काल को चक्रानुक्रमिक रूप से देखते हैं और काल की यह वृत्ताकार कल्पना ही इतिहास-बोध में बड़ी बाधा है। स्पष्ट है कि भारतीय काल की अवधारणा इतिहास की अनुक्रमिकता का खंडन करती है। इतिहास निरंतर आगे बढ़ता है जब कि काल लौटता है। अतः भारतीय को इतिहास बोध का न होना स्वाभाविक है।

अज्ञेय के अनुसार इतिहास में अनुक्रमिकता अनिवार्य होने के कारण समय की सीधी रेखा निरंतर पूर्वोन्मुख होती है। अतः इतिहास ‘जीवित सत्य’ न होकर अतीत का सत्य होता है।’

अज्ञेय का मानना है कि परिवेश के दबाव के कारण भले ही हम यह कहें कि हम विज्ञान के युग में जीते हैं पर वास्तव में हम एक मानव युग में ही जीते हैं। परिवेश यद्यपि प्रभावित करता है पर इतिहास उन प्रभावों का ब्यौरा नहीं है, इतिहास यह है कि मानव जाति कैसे अपने परिवेश को अपने प्रयोजन में लाती रही है। जहाँ इतिहास की दृष्टि मानव की स्वतंत्रता और परिस्थिति को वश करने के उसके उद्यम से हटती है, वहीं इतिहास अमानवीय हो जाता है। अतः अज्ञेय का कहना है कि ‘केवल तथ्यों का समूह इतिहास नहीं होता, घटना क्रम के संदर्भ में मानव की अनवरत आत्म-प्रत्यभिज्ञा ही इतिहास है। निरे तथ्यों के संग्रह में जहाँ इतिहास की दृष्टि च्युत होती है वहीं वह इतिहास नहीं रहता। मानव की अपनी पहचान में न केवल कोई योग नहीं देता बल्कि उसमें इस हद तक बाधक बन जा सकता है कि मानव का अस्मिता-बोध ही नष्ट हो जाए।’

अज्ञेय के अनुसार आधुनिक मानव का अस्मिता-बोध कई और प्रकार के आक्रमणों से संकट-ग्रस्त हुआ है पर एक कारण यह भी है कि इतिहास का अमानवीकरण आत्मचिंतन के लिए कोई रंभ ही नहीं छोड़ता। अपनी पहचान तक भूल जाता है। अतः अज्ञेय स्पष्ट करते हैं कि

पश्चिम के शब्द हिस्ट्री अथवा इस्टोरिया से भिन्न भारतीय शब्द इतिहास इस सत्य को सामने रखता था : मानव की आत्मप्रत्यभिज्ञा के लक्ष्य से उसकी दृष्टि कभी विचलित नहीं होती थी। इतिहास- ऐसा होता आया है 'इतिहास की यह परिकल्पना घटना-क्रम को केवल मानवीय संदर्भ नहीं देती थी, मानव को केन्द्र में रखती हुई उसके अपने को परिवेश के साथ सर्जनात्मक रूप में जोड़ने के उद्यमों का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करती रहती थी। परंतु जिस वैज्ञानिक युग में जीने के संदर्भ से इस प्राचीन परिकल्पना पर बल देना केवल परंपरावाद नहीं है, बल्कि परंपरा की मानवीयता की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

अज्ञेय के अनुसार जिन लोगों या जातियों में इतिहास और अन्तर्ज्ञान का जीवित संबंध हरा है- जिनके लिए इतिहास आत्म-प्रत्यभिज्ञा का साधन रहा है उन्होंने न अस्मिता बोध खोया है, न उनमें वह स्वतंत्रता का आतंक लक्षित हुआ है। इस प्रकार अज्ञेय का मानना है कि 'इतिहास ही नहीं, महाकाव्यों ने बल्कि महान साहित्य मात्र ने आत्मबोध और स्वतंत्रता के उपयोग तथा उपभोग को संभव बनाने और पुष्ट करने में योग दिया है। आत्म प्रत्यभिज्ञा को व्यावहारिक बनाया है।

अज्ञेय वैज्ञानिक जानकारी के इस युग में इतिहास की मानवीय परिकल्पना के संदर्भ में मानव मात्र की आत्म-प्रत्यभिज्ञा की रक्षा का-स्वतंत्रता की रक्षा का प्रश्न उपस्थित करके स्पष्ट करते हैं कि- 'मानवीय इतिहास ही नहीं, जीव का समूचा विकास ही इस बात पर बल देता है कि वह स्वातंत्र्य साधना ही जीव-मात्र की प्रवृत्ति है। छोटी से छोटी जीव-कोशा भी ऐसा सप्राण संगठन होती है जो अपने को परिवेश से इस रूप में जोड़ता है कि परिवेश के तत्त्व उस संगठन अथवा प्राणकोश की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें, उसके भरण-पोषण वर्धन में योग दे सकें। इसके लिए उपकरणों के चयन का, चुनाव और वरण का तत्त्व उस प्राण-कोशा में ही वर्तमान है। इस चयन का क्षेत्र ही उस प्राण-कोशा की स्वतंत्रता का क्षेत्र और उसकी मर्यादा है। चयन का लक्ष्य अथवा साध्य है आत्म-भरण, सातत्य, विकास, संवर्धन। और एक क्षेत्र की सीमा पार करके एक वृहत्तर व्यापकतर क्षेत्र में प्रवेश-एक मर्यादा

का अतिक्रमण कर जाना ही लोकोत्तर प्रवेश है।'

लेकिन अज्ञेय के अनुसार आज के युग में 'आत्म' और 'प्रत्यभिज्ञा' में से किसी एक कभी उल्लेख एक विकृत मुस्कान का निमित्त बन जाता है। वह विकृति अथवा प्रमाण 'आधुनिकता', 'वैज्ञानिकता' आदि में खोजती है। वस्तुतः वह उसी संकट- उस नकारवाद का परिणाम और लक्षण है, जो आत्म-विस्मृति और अपने बारे में सोचने की योग्यता खो बैठने का फल होता है। इसलिए आत्म प्रत्यभिज्ञा ही नहीं, स्वातंत्र्य की परिकल्पना को भी व्यापक तर संदर्भ में देखना चाहिए, जिस की परिधि में जीव मात्र आ जाए। क्योंकि अज्ञेय का मानना है कि 'बुद्धि का एक अनिवार्य आत्मचेतन पक्ष है- वह परिवेशचेतन ही नहीं, प्रत्यक्षतः आत्मचेतन भी होती है- यह आत्मचेतना दोहरी होती है। उसमें आभ्यंतर प्रक्रिया का बोध भी होता और चेतन होने की भी चेतना होती है जो स्वतः प्रमाण और स्वलक्षण है। यह स्वतः प्रमाणता और स्वलक्षण ही चेतना को विषयी-सापेक्षता से मुक्त कर सकता है। अतः परिवेश की, बाहर की चेतना, प्रक्रिया की, भीतर की चेतना, और चेतना की चेतना : वैचारिक जगत के इतिहास का क्षेत्र और लक्ष्य इस से निरूपित हो जाता है। मानवीय संस्कृति मानव के अतीत चिंतन, आत्म-निरूपण लोकोत्तर जिज्ञासा और इन सब के साधनों-उपकरणों का अध्ययन इस चेतना प्रक्रिया का अंग है।

अज्ञेय के अनुसार मानवीय प्रयोजन से रहित जो जानकारी चेतना की इस प्रक्रिया का अंग नहीं है, मानव के स्वातंत्र्य में योग नहीं देती वह स्वातंत्र्य को खतरे में डाल सकती है- क्योंकि आत्म-प्रत्यभिज्ञा से रहित मानव उत्तरदायित्व रहित रहित मानव होता है। विज्ञान अगर अतिनैतिक है, नीत्यतीत है, तो जो वैज्ञानिक आविष्कार मानव के हित में उपयोगी हो सकता है वह आसानी से मानव घाती प्रयोजनों का साधन भी बन सकता है।

अज्ञेय के अनुसार 'विज्ञान में अगर कोई नैतिक प्रेरणा निहित नहीं है, तो वैज्ञानिक मानव पर भी कोई नैतिक दायित्व उसकी नैतिकता से नहीं आता : नैतिक मानव की अवधारणा रूप से कम अभी तक की वैज्ञानिकता से तो सिद्ध नहीं है- और यांत्रिकता पर आधारित समाज व्यवस्थाएँ

अभी तक अनैतिक ही नहीं, अमानवीय भी हैं। यंत्रों की सुखद संभावनाओं को हम नहीं नकारते। पर एक नीति निरपेक्ष जानकारी अनैतिक लक्ष्यों का साधन न बनकर कल्याणकारी आयोजनों में लगायी जाये, इसका आश्वासन स्वयं उस जानकारी से नहीं मिलता- वह जिस आत्म प्रत्यभिज्ञा से मिलता है उसी को प्रेरित करने वाले इतिहास की हम वकालत कर रहे हैं। और यह इतिहास मानव की स्वतंत्रता-साधना का इतिहास ही हो सकता है।' इस प्रकार अज्ञेय के अनुसार मानव की अनवरत आत्म-प्रत्यभिज्ञा ही इतिहास है। अज्ञेय के अनुसार परिवेश के साथ अर्थवान संबंध स्थापित करने के लिए कंटिन्यूइटी की, परंपरा की आवश्यकता होती है। क्योंकि उनका मानना है कि नैरन्तर्य का रिश्ता जोड़े बिना परिवेश से कोई रिश्ता ही नहीं जुड़ता, नये परिवेश के साथ भी जो संबंध बनता है उसकी अर्थवत्ता में इस नैरन्तर्य का बड़ा महत्वपूर्ण योग होता है।' साथ ही निरंतरता के बिना इतिहास नहीं है, और इतिहास के बिना आधुनिक होना

संभव नहीं। इसलिए अज्ञेय कहते हैं कि 'आधुनिक, मॉडर्न होने के लिए इतिहास आवश्यक होता है, बिना ऐतिहासिकता के बोध के माडर्न होना ही संभव नहीं है और यह बात हमारे देश में और भी महत्व रखती है, जहाँ इतिहास को निरवधि महाकाल के फैलते हुए महावृत्त में एक छोटा-सा आवर्त-भर माना गया। पर अगर ऐतिहासिकता के बिना आधुनिक होना संभव नहीं है, तो उससे पहले यह ध्यान में रखने की बात है कि निरंतरता के बिना इतिहास का कोई अर्थ नहीं है। निरंतरता की पहचान ही वास्तव में इतिहास बोध का मूल और आरंभ है। यह निरंतरता प्रकृति में भी है, प्रकृति और मानव के बीच भी, मानव और मानव के बीच भी।' इस प्रकार नैरन्तर्यता में इतिहास की सार्थकता है।

इस विवेचन के आधार पर समग्रतः कहा जा सकता है कि अज्ञेय ने एक सर्जक रचयिता की दृष्टि से इतिहास को मानवीयता के साथ संबद्ध करके मानव की पहचान का इतिहास बनाया है।

संपर्क :

संगमनेर, जिला- अहमदनगर (महाराष्ट्र),
पिन- 422 605, मो. 9689423751

हिंदी साहित्य का आदिकाल (वीरगाथा काल) : कुछ उलझनें डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित

हिंदी साहित्य का आदिकाल अत्यधिक विवादग्रस्त काल है। इसका नाम, काल-सीमा, रचनाएँ, रचनाओं का सही रचना-काल, रचयिता का निश्चित काल, रचनाओं की प्रामाणिकता-सब कुछ संदिग्ध है। साहित्येतिहास-लेखकों का मतैक्य इस बात को लेकर भी नहीं है कि इस काल के अन्तर्गत किन-किन रचना-धाराओं को लिया जाना चाहिए। इस बात की भी सामान्यतया अनदेखी कर दी गई है कि इस काल में क्या कुछ गद्य भी लिखा गया था कि नहीं। भाषा के रूप-ग्रहण और साहित्य-रचना की पारस्परिक भेदक रेखाएँ भी धुँधला-सी गई हैं। साहित्येतिहास के अगणित लघुतम, लघुतर, लघु और मध्यम एवं बृहद संस्करणों के रहते यह स्थिति है। स्वाभाविक है कि आगे के कालों पर भी इस अनिश्चित स्थिति का कुछ-न-कुछ प्रभाव तो पड़ा ही है। एक आलेख में इन बातों कह विस्तरशः चर्चा संभव नहीं है, अतः हम केवल वीरगाथाकाल पर ही यहाँ विचार करेंगे।

पं. रामचंद्र शुक्ल का सन् १९२९ में प्रकाशित ग्रंथ 'हिंदी साहित्य का इतिहास' हिंदी का पहला व्यवस्थित इतिहास है। इससे पूर्व प्रकाश में आने वाले 'मिश्रबंधु विनोद' या तासी और अब्राहम ग्रियर्सन के द्वारा लिखे गये तथाकथित इतिहासों की परिगणना इतिहास की कोटि में नहीं की जाती। विनोद को तो स्वयं मिश्र बंधुओं ने ही इतिहास कहने में संकोच व्यक्त किया है। शुक्ल जी के इतिहास के बाद कई इतिहास-ग्रंथ सामने आए परंतु सन् १९५२ में एक-दूसरे के आगे-पीछे प्रकाशित होने वाले हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' तथा 'हिंदी साहित्यः उद्भव और विकास' के अनंतर हिंदी साहित्य के आदिकाल के विषय में व्यक्त की गई शुक्ल जी की मान्यताएँ अधिकांशतः प्रश्नांकित या निरस्त कर दी गईं और तब से लेकर आज तक जो सैकड़ों छोटे-बड़े, मझौले और बृहद् इतिहास लिखे गये उनमें केवल नये शोध के आधार पर आदिकाल का विवेचन न करके शुक्ल जी के इतिहास की भूलों या गलतियों को दिखाना जैसे चलन बन गया और जो उस काल की सामग्री नहीं सिद्ध होती थी उसकी प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता में सिर खपा कर वहीं विस्तार से सब-कुछ कहकर उन संदिग्ध रचनाओं को उनके यथोचित काल में न तो रखा ही गया न पढ़ाया ही गया।

ध्यान देने की बात है कि शुक्ल जी ने काल-विभाजन करते हुए इस काल को समग्रतया तो आदिकाल ही कहा है, किंतु प्रवृत्ति-विशेष को रेखांकित करने की दृष्टि से वे उसे 'वीरगाथा काल' भी कहते हैं। दुर्भाग्य यह कि उन्होंने जिन काव्य रचनाओं के आधार पर यह नाम दिया था उनमें से खुमानरासो' बहुत बाद की रचना है। 'बीसलदेव रासो' तो वीरकाव्य ही नहीं है, 'पृथ्वीराज रासो' तथा 'परमाल रासो' अर्द्ध प्रामाणिक सिद्ध कर दी गई है। भट्ट केदार और मधुकर भट्ट और उनकी रचनाएँ 'जयचंद्र-प्रकाश' तथा 'जयमयंकजसचंद्रिका' के अस्तित्व का

ही कुछ पता नहीं है। नल्लसिंहकृत 'विजयपाल रासो' बहुत बाद की रचना है। बचते हैं केवल विद्यापति ठाकुर और उनकी अवहट्ट की कृति 'कीर्तिलता' तथा अंशतः प्राप्त 'कीर्तिपताका', तो अकेले उनके बल पर वीरगाथा काल की पताका कैसे फहरे?

शुक्ल जी ने अपने इतिहास के संशोधित-प्रवर्द्धित संस्करण (सं २००२) में सम्मिलित किए गए प्रथम संस्करण के वक्तव्य में आदिकाल के अंतर्गत दो प्रकार की रचनाएँ मिलती बतायी गयी हैं... अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की रचनाएँ भी उनकी दृष्टि में दो प्रकार की हैं: १. जैनों के धर्म-तत्त्व-निरूपण-संबंधी, जो साहित्य-कोटि में नहीं आतीं, २. साहित्य-कोटि की, जिनमें से कुछ तो भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकल दोहे हैं, जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। साहित्यिक पुस्तकें केवल चार हैं... १. विजयपाल रासो २. हम्मीर रासो ३. कीर्तिलता ४. कीर्तिपताका। इन अपभ्रंश रचनाओं में 'विजयपाल रासो' के विषय में वे पूरे इतिहास (संशोधित व प्रवर्द्धित संस्करण, सं २००२) में मौन हैं। (प्रथम संस्करण न हमारे पास है, न सुलभ ही है, अतः हम नहीं कह सकते कि उसमें किसका कहाँ और किस रूप में उल्लेख है या नहीं है।)

डॉ. सुमन राजे ने 'हिंदी रासोकाव्य परंपरा' (प्रका. ग्रंथम, कानपुर, प्र सं. १९७३) में इसे सत्रहवीं विक्रमी की रासो रचनाओं में गिनाते हुए इसका विवरण दिया है, जिसके अनुसार अपूर्ण रूप में उपलब्ध इस काव्य के रचयिता नल्लसिंह भाट ने अपने को सिरौहिया शाखा का भाट तथा विजयगढ़ के यदुवंशी नरेश विजयपाल का आश्रित कहा है, जिन्होंने उसे हिड़ो न नामक नगर, सौ गाँव, हाथी, घोड़े आदि पुरस्कार में दिये थे। ग्यारहवीं शती के करौली के राजा विजयपाल के संवत् १०९३ के युद्ध का इतिहास प्रमाण है। अतः प्रायः अनुमान लगाया गया है कि कवि स्वयं विजयपाल का समवर्ती है और विजयपाल रासो का रचनाकाल ११वीं शती वि. के आसपास है। किंतु भाषा के स्वरूप को देखते हुए यह रचना पर्याप्त परवर्ती मालूम होती है। मोतीलाल मनेरिया के अनुसार इसका रचनाकाल

संवत् १९०० या इसके भी बाद का है। (पृ. २२६) तथ्यों के अभाव में लेखिका निश्चित रूप से कुछ नहीं कह पाती कि रचना कब हुई होगी।

'रासो साहित्य विमर्श' (प्रका. साहित्य भवन प्रा. लि., इलाहाबाद, प्रथम संस्करण १९६२ ई.) के लेखक डॉ. माताप्रसाद गुप्त 'रास तथा रासक काव्य परंपराएँ' शीर्षक लेख में इसके केवल ४२ उपलब्ध छंदों का उल्लेख करते हुए इसमें आए तोपों के उल्लेख तथा इसकी भाषा के आधार पर इसे १७वीं सदी से पूर्व का नहीं मानते। (पृ. १५) डॉ. घीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य, द्वितीय खंड' (प्रका. भारतीय हिंदी परिषद, प्रयाग, प्र.सं. २०१५ वि., (सन् १५४३ ई.) के बाद की ही हो सकती है, यह पहले ही कह चुके हैं।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' (प्रका. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना, प्रसं. वि. सं. २००९, सन् १९५२ ई.) में इसका पृ. संख्या १० तथा ११ पर प्रसंगतः नामोल्लेख मात्र करते हैं। वे उसी वर्ष प्रकाशित अपने ग्रंथ 'हिंदी साहित्य: उद्भव और विकास में मिश्र बंधुओं के हवाले से इसकी थोड़ी चर्चा करते हुए उनके द्वारा कथित सं. १३५५ को स्वीकारते हुए बस इतना ही कहते हैं कि "लेकिन यह बहुत पुराना ग्रंथ नहीं मालूम होता। इसकी भाषा और शैली पर विचार करने से मालूम होता है कि इसकी रचना बहुत बाद में हुई होगी।" कब हुई होगी, इसकी चर्चा वे नहीं करते।

इधर 'हिंदी साहित्य की भ्रांतियाँ और उनका निराकरण' (प्रका. कुसुम प्रकाशन, आदर्श कॉलोनी, मुजफ्फरनगर, उ.प्र. १९९३ ई.) में 'मि.ब.विनोद' के रचनाकाल-संबंधी विचार का खंडन करते हुए कहते हैं: "जितना अंश इस रचना का प्रकाश में आया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इसमें कई ऐतिहासिक भूलें हैं और इसकी भाषा भी अर्वाचीन है। वास्तव में यह ग्रंथ सं. १९०० के आसपास रचा गया है, क्योंकि इस पर 'वंश भास्कर' का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। परंतु प्राचीन बताने के लिए इसके रचयिता ने 'नल्ल सिंह' का कल्पित परिचय इसमें जोड़ दिया है। अतः यह प्राचीन रचना नहीं है। वैसे 'विजयपाल रासो' के संबंध में एक लेख जे.एस.लशिंगटन

ने 'एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता' के सन् १८३२ के 'जर्नल' (पृ. ७३) में प्रकाशित कराया था। इस पर भी विचार किया जाना चाहिये।" (पृ. १७)

इसके रचनाकाल के संबंध में श्री गर्ग का मत डॉ. सुमन राजे द्वारा उद्धृत मोतीलाल मेनारियाजी की पुस्तक 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' (पृ. ५५) के मत से मेल खाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऐतिहासिक भूलों और 'वंश भास्कर' के प्रभाव की दो बड़े पते की बातें कही हैं, किंतु उनका कोई उदाहरण नहीं दिया। हिंदी साहित्य, द्वितीय खंड में 'वंशभास्कर' के रचयिता कविराजा सूर्यमल का पृ. ५२९ पर समय वि.सं. १८७२-१९२० और पृ. ५३० पर सं. १८९७ सन् १८४० तथा परिशिष्ट वाली सूची में पृ. ६३३ पर वि.सं. १९०० सन् १८४३ में बताया गया है। ये तीनों उल्लेख एक ही लेखक श्री उदयसिंह भटनागर ने किए हैं। परिशिष्ट वाले उल्लेख में तो रचनाकार का नाम भी सरजमल दिया गया है। वास्तविकता यह है कि वि.सं. १८७२ सूर्यमल का जन्मकाल है और वि. सं. १९२० उनका निधन-काल। ये दोनों संवत् क्रमशः पं. मोतीलाल मेनारिया (राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा, प्रका. छात्रहितकारी पुस्तकमाला, प्रयाग, प्र.सं. अगस्त १९३९, पृ. १४३-१४४) तथा डॉ. पुरुषोत्तमलाल मेनारिया (राजस्थानी साहित्य का इतिहा, प्रका. मंगल प्रकाशन, जयपुर, प्र.सं. ३० मार्च १९६८, पृ. ११६, ११९) द्वारा समर्थित है। पं. मोतीलाल जी के अनुसार "ग्रंथों में 'वंशभास्कर' इनकी सर्वश्रेष्ठ और सर्वप्रिय रचना है। बूंदी-नरेश महाराज राजा रामसिंह जी (सं. १८७८-१९४५) की आज्ञा से इन्होंने सं १८९७ में इस ग्रंथ को लिखा था।" अतः यदि 'विजयपाल रासो' पर 'वंशभास्कर' का प्रभाव होना सही है तो 'विजयपाल रासो' की रचना उसके दस-बीस साल पीछे अर्थात् वि. सं. १९०७ के बाद ही कभी हुई होगी। इस विचार से यह रचना २०वीं शती वि. से पहले की नहीं हो सकती। परंतु जैसा शुक्ल जी इसके अपभ्रंश की रचना होने की धारणा व्यक्त करते हैं, वैसा होना असंभव नहीं तो संदेहास्पद तो हो ही जाता है। परंतु एक ओर श्री गर्ग का यह मानना कि इसमें ऐतिहासिक भूले हैं सही है तो दूसरी ओर इसका पूर्णतया अपभ्रंश की रचना

होना न सही अपभ्रंश-प्रभावित होना भी सही है। इस बात की पुष्टि पं. मोतीलाल मेनारिया के इस कथन से होती है कि 'विजयपाल रासो की भाषा प्राकृत-अपभ्रंश का सम्मिश्रण है और वीर रस का उसमें अच्छा परिपाक दृष्टिगोचर होता है।' (रा. सा.रू., पृ. ४१)

'विजयपाल रासो' की तरह ही हम्मीर रासो की स्थिति भी कमजोर है क्योंकि न तो वह रचना के रूप में उपलब्ध है और न 'प्राकृत पिंगलम्' में प्राप्त जिन कतिपय पद्यों के आधार पर उसकी और शार्ङ्गधर के उसके लेखक होने की बात की गई है, उन दोनों का ही ठीक-ठिकाना नहीं है। इतना ही नहीं, शुक्ल जी ने अपने इतिहास में 'प्राकृतपिंगलम्' का जो पद्य उद्धृत किया है उसमें आयी हुई पंक्ति "हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल मुहमह जलउ" का 'जज्जल नामक पात्र कहता है', जबकि महापंडित राहुल सांकृत्यायन मानते हैं कि 'जज्जल नामक कवि है' जो यह पद्य कह रहा है। द्विवेदी जी इन बातों का उल्लेख 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' (पृ. १५-१६) तथा हि.सा.उ.वि. (पृ. ४२-४३) पर थोड़े शब्दभेद के साथ करते हुए कहते हैं: "यदि दूसरा अर्थ (पात्र की उक्ति) लिया जाय जो रचना 'जज्जल की नहीं' किसी और कवि की होगी; परंतु वह और कवि शार्ङ्गधर ही है इसका कोई सबूत नहीं। इतना अवश्य है कि यह उक्ति किसी ऐसे काव्य से उद्धृत है जिसमें वीर रस का प्रसंग अवश्य था। फिर यदि 'प्राकृतपिंगलम्' के एक कवि के ग्रंथ को वीरगाथाकाल का ग्रंथ समझा जाय तो उसी ग्रंथ में से बब्बर, विद्याधर और अन्य अज्ञात कवियों की रचनाओं को भी उस काल की रचना मानकर विवेच्य क्यों न समझा जाय। प्राचीन गुर्जर-काव्यों में भी अनेक कवियों की रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें थोड़ा-बहुत हिंदी से संबद्ध समझकर इस काल के विषय में विचार किया जा सकता है। हमारे कहने का मतलब यह है कि या तो 'हम्मीर रासो' को नोटिस मात्र समझा जाय या प्राकृत पिंगलम् में उद्धृत सभी रचनाओं को इस अनुमानाधारित ग्रंथ के समान ही इस काल की प्रकृति और संज्ञा के निर्णय का उपयुक्त साधन समझा जाय।" यहीं वे 'हि.सा.आ' में यह भी कहते हैं कि 'हम्मीर नाम इस देश में किसी एक

ही राजा के लिए व्यवहृत नहीं हुआ है।..... सो, हम्मीर शब्द को किसी पद्य में आया देखकर यह नहीं मान लिया जा सकता है कि चित्तौर वाले हिंदू राजा हम्मीर की ओर ही इशारा कर रहा है।” (पृ. १६)

‘हि.सा.उ.वि’ में वे यह जोड़ देते हैं- “शार्ङ्गधर द्वारा संगृहीत ‘शार्ङ्गधर पद्धति’ नामक एक संस्कृत पद्यकोष अवश्य मिला है जिसमें शार्ङ्गधर की कुछ अपनी रचनाएँ भी हैं। ऐसे तो इसके सब पद्य संस्कृत के हैं, किंतु कुछ मंत्र और कुछ मिश्रभाषा की ऐसी रचनाएँ भी हैं जिनमें तत्काल प्रचलित लोकभाषा का कुछ आभास मिल जाता है।’ (पृ. ४३ पुनर्मुद्रण) उस आभास को बताने के लिए वे श्रीकंठ पंडित का एक श्लोक भी उद्धृत करते हैं। शुक्ल जी शार्ङ्गधर संबंधी इन बातों से अनवगत नहीं थे। उन्होंने ही अपने इतिहास में यह श्लोक उदाहरण-स्वरूप दिया है। हाँ, इतना अवश्य है कि उन्होंने श्रीकंठ पंडित का नाम नहीं दिया। उन्होंने शार्ङ्गधर के आयुर्वेद ग्रंथ के लेखक, अच्छा कवि और सूत्रकार होने की भी बात कही है और साथ ही यह भी कहा है: ‘इन्होंने ‘शार्ङ्गधर पद्धति’ नाम से एक सुभाषित संग्रह भी बनाया है और अपना परिचय भी दिया है। रणथम्भौर के सुप्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीरदेव के प्रधान सभासदों में राघवदेव थे। उनके भोपाल, दामोदर और देवदास ये तीन पुत्र हुए। दामोदर के तीन पुत्र हुए शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण। हम्मीरदेव संवत् १३५७ में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गये थे। अतः शार्ङ्गधर के ग्रंथों का समय उक्त संवत् के कुछ पीछे अर्थात् विक्रम क १४वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मानना चाहिए।’ (पृ. २१, संस्करण सं. २००२)। अर्थात् शार्ङ्गधर हम्मीरदेव के सभासद राघवदेव के पौत्र थे। अतः संभावना है कि ये कदाचित् महाराज हम्मीरदेव के समय में रहे हों, भले ही वय के रहे हों। इन्होंने ‘हम्मीर रासो’ लिखा, जो अब अप्राप्य है।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने ‘रासो साहित्य विमर्श’ के अपने ‘प्राकृत पैंगलम के हम्मीर विषयक छंद’ लेख में विस्तार से इस विषय से संबंधित सारे प्रश्नों पर विचार करके क्रमशः जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इस प्रकार हैं:...

१. ये छंद कदाचित् एक ही हम्मीर के विषय में और

एक ही रचना के हैं, यह बात न केवल छंदों की भाषा-शैली और विषय के समान होने से ज्ञात होती है, वरन् इससे भी इन छंदों में परस्पर कोई विरुद्ध कथन अथवा पुनरुक्ति नहीं है।” २. इन छंदों में पुनरुक्ति नहीं दिखाई पड़ती है और मुक्तकों की भांति ये छंद सर्वथा स्वतंत्र भी नहीं हैं, प्रसंग-सापेक्ष हैं, इसलिए से समस्त छंद किसी प्रबंधकाव्य के ज्ञात होते हैं। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि ये छंद आठ विभिन्न वृत्तों के हैं। मुक्तक काव्यरूपों में इस प्रकार का छंद-वैविध्य नहीं होता है, वह भी उक्त परिणाम की पुष्टि करता है। इस प्रकार का छंद-वैविध्य प्राचीन हिंदी की रचनाओं में ‘रासो’ काव्यरूप में ही पाया जाता है। इसलिए यह रचना ‘रासो’ परंपरा की ज्ञात होती है।” ३. श्री राहुल सांकृत्यायन ने ऊपर के जिन छंदों में भी ‘जज्जल’ आता है उन्हें जज्जल-कृत माना है, किंतु यह मान्य नहीं है। जिन छंदों में भी ‘जज्जल’ नाम आता है उनमें वह एक वीर योद्धा के रूप में रचना का पात्र बनकर आता है, जो स्वामी के कार्य के लिए अपने प्राणों की आहुति करने जा रहा है, अथवा वह हम्मीर की सेना का अग्रणी है। ऊपर के छंदों में से एक भी ऐसा नहीं है कि बिना कथा के एक पात्र के रूप में आए भी उसका नाम आता है। शार्ङ्गधर रचित एक ‘हम्मीर रासो’ माना जाता रहा है, किंतु इन छंदों की रचना शार्ङ्गधर द्वारा हुई है, यह मानने के लिए कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं है।” ४. ‘...‘प्राकृत पैंगलम’ का संकलन काल सं. १४२५ के लगभग ठहरता है। फलतः उपर्युक्त हम्मीर संबंधी छंदों की रचना सं. १४२५ के बाद की न होनी चाहिए,। भाषा का साक्ष्य भी इस परिणाम का समर्थन करता है। अभी तक हम्मीर के संबंध में प्राप्त सबसे प्राचीन कृति सं. १४६० के लगभग नयचंद्र सूरि द्वारा ‘हम्मीर महाकाव्य’ है जो संस्कृत में हैं।” ५. कौन से युद्ध हैं, म्लेच्छ शत्रु कौन है, यह निश्चित रूप नहीं ज्ञात होता है। वह दिल्लीपति हो सकता है और खुरासानपति भी, जिनका स्पष्ट उल्लेख अन्य कतिपय छंदों में होता है। ६. इन छंदों में से दो में हम्मीर की अनेक देशों पर जो विजय का उल्लेख किया गया है “इनमें से मालव-विजय का समर्थन हम्मीर के समय बलवन (पूर्ववर्ती कोटा राज्य) के एक शिलालेख

से भी होता है' अन्य विजयों के संबंध में कोई ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त नहीं है। इन विजयों में से सबसे अधिक विचारणीय खुरासान की है....। यदि यह युद्ध इतिहासनुमोदित नहीं है, तो इन छंदों की रचना हम्मीर के समय हुई मानना कठिन होगा। इस प्रसंग में यह अवश्य जानने योग्य है कि कवि ने हम्मीर की दिग्विजय का उल्लेख किया है। यदि प्राचीन समसामयिक प्रशस्तियों में इस प्रकार की अवास्तविक विजयोल्लेख की रूढ़ि मिलती हो, तभी इन छंदों को समसामयिक रचना माना जा सकेगा। ७. मात्रावृत्त १४७ में जज्जल को हम्मीर का मंत्री बताया गया है, किंतु डॉ. गुप्त विद्यापति की 'पुरुषपरीक्षा' सं. १४६० के लगभग रचे हुए नयनचंद्र सूरि के 'हम्मीर महाकाव्य' तथा सं. १५३८ में रचे गए भाणकृत 'हम्मीर चउपई' (अप्रकाशित) के जाजदेव-विषयक उल्लेखों के आधार पर जाज के हम्मीर के मंत्री होने को तो प्रामाणिक नहीं मानते किंतु 'प्राकृतपैंगलम्' के अन्य दो प्रतियों के पाठ, 'मंतिवर' के स्थान पर 'मल्लवर' के आधार पर निर्णय-स्वरूप कहते हैं:- "अतः यह स्पष्ट है कि जाज को एक योद्धा ही इन छंदों में कहा गया होगा और पाठांतर की प्रतियों का पाठ की स्वीकार्य होना चाहिए।"

डॉ. गुप्त ने 'हिंदी साहित्य, द्वितीय खंड' में 'हम्मीर रासो' के विषय में कुछ और सूचनाएँ भी दी हैं। 'प्राकृतपैंगलम्' में हम्मीर के स्पष्ट नामोल्लेख वाले विभिन्न वृत्तों के उदाहरण-स्वरूप आए छंदों के आधार पर उनकी यह कल्पना है कि "...असंभव नहीं कि उसमें और भी कुछ छंद ऐसे हों जो हम्मीर के चरित्र से संबंधित हों, यद्यपि उनमें हम्मीर का नाम न आया हो।... अतः यह मानना ठीक ही होगा कि विविध छंदों से विभूषित हम्मीर के जीवन से संबंधित कोई समाहत कृति उस समय थी जब 'प्राकृतपैंगलम्' की रचना हुई, और असंभव नहीं कि यह प्राकृत कृति रासो-परंपरा में रही हो।- (पृ. १२३) उन्हीं के शब्दों में - इन छंदों की रचना १४वीं या १५वीं शताब्दी की होनी चाहिए।' शुक्ल जी के समान ही वे भी यहाँ शार्ङ्गधर पद्धति' में संकलित है। यद्यपि यह असंभव नहीं कि शार्ङ्गधर ने 'हम्मीर रासो' नामक किसी कृति की रचना की हो, किंतु इसके कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

आगे चलकर यद्यपि वे 'हिंदी अनुशीलन' (पौष-चैत्र २०११, पृ. १) में प्रकाशित डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के 'जाज या जज्जल' शीर्षक लेख के आधार पर यह कहते हैं कि "अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों से भी जज्जल के हम्मीर के मंत्री होने का समर्थन होता है" तथापि क्योंकि 'रा.सा. विमर्श' उनके इस कथन के तीन साल बाद अर्थात् सन् १९६२ में प्रकाशित हुआ है और उसमें संकलित पूर्वोक्त लेख में उन्होंने अन्यान्य आधारों पर जज्जल के मंत्री होने की बात का खण्डन किया है, अतएव वही उनका अंतिम कथन मान्य हो सकता है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि 'रासो साहित्य विमर्श' (१९६२) में ही उन्होंने 'रास और रासक काव्य-परंपराएँ' शीर्षक लेख में 'हम्मीर रासो' के परिचय में हम्मीर की खुरासान-विजय को 'इतिहास की दृष्टि से शुद्ध नहीं है' कहते हुए लिखा है : - 'इसलिए यह रचना (हम्मीर संबंधी) हम्मीर की समकालीन नहीं हो सकती है, जैसा 'प्राकृत पैंगलम' के विद्वान संपादक श्री चंद्रमोहन घोष ने इसे माना है। किंतु इन छंदों की भाषा ऐसी है कि रचना हम्मीर के समय के कुछ ही बाद की होनी चाहिए। शार्ङ्गधर भी हम्मीर के समकालीन नहीं थे, उनके पितामह श्री राघवदेव हम्मीर के कृपापात्र थे। इसलिए यह असंभव नहीं है कि हम्मीर संबंधी उक्त रचना शार्ङ्गधर की कृति रही हो। किंतु यह बात अभी निश्चय के साथ नहीं कही जा सकती है। रचना उत्तरकालीन अपभ्रंश में है। इसके छंद 'प्राकृतपैंगलम्' में उदाहरणों के रूप में उद्धृत किए गए हैं, इसलिए रचना सम्मानित रही होगी, यह भी प्रतीत होता है।' (पृ. १३) हम समझते हैं कि जज्जल, शार्ङ्गधर और हम्मीर रासो के छंद होने संबंधी तीनों बातों के विषय में की गई शुक्ल जी की कल्पना को इस विवरण से पूरा समर्थन मिलता है और द्विवेदी जी के केवल इतने संदेह को जगह दी जा सकती है कि 'यह कैसे मान लिया जा सकता है वह काव्य शार्ङ्गधर का लिखा हुआ 'हम्मीर रासो ही था। इस विषय में हमारा अपना विचार है कि जब तब उसका कोई दूसरा लेखक सिद्ध नहीं होता तब तक निकटवर्ती सत्य और लोकप्रसिद्धि के आधार पर सोलह आना न सही बारह आना मान्यता देने में हिचक नहीं होनी चाहिए। और इतना तो सोलह आने सच ही है कि ये छंद

किसी प्रबंधकाव्य के हैं और वीर रस के हैं, अतः तथाकथित वीरगाथाकाल की प्रवृत्ति के हैं। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल तो दृढ़तापूर्वक कहते भी हैं: –‘प्राकृत पैंगलम्’ के जो हम्मीर संबंधी छंद हैं उनका मूल स्रोत शार्ङ्गधर-प्रणीत ‘हम्मीर रासो’ के अतिरिक्त और कुछ संभव प्रतीत नहीं होता।’ (कीर्तिलता- संपा. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, १९६। भूमिका, पृ. ७२) ऐसी स्थिति में ‘हम्मीर रासो’ और उसके शार्ङ्गधर को तब तक स्वीकार किया जाना चाहिए जब तक उनके विरुद्ध प्रमाण नहीं मिलता।

खुमान रासो के विषय में शुक्लजी स्वयं ऐतिहासिक आधार पर संदेह व्यक्त करते हैं (यों भी वे वीरगाथाकाल के भीतर रखी जाने वाली सभी रचनाओं के संदिग्ध होने की बात कहकर अपनी विवशता पहले ही व्यक्त कर चुके हैं कि इन्हीं से काम चलना पड़ेगा)। वे उसके वर्तमान रूप को वि. सं. की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ मानते हैं और अंत में कहते हैं: – ‘शिवसिंह सरोज’ के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने ‘खुमानरासो’ नामक एक काव्य-ग्रंथ लिखा था जिसमें श्री रामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपत-विजय असली ‘खुमानरासो’ का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का (हि.सा.इ., सं. सं., पृ. २९) जॉर्ज ए. ग्रियर्सन ने ‘हिंदुस्तान का आधुनिक भाषा साहित्य’ नामक अपने इतिहास में ‘खुमान सिंघ’ के नाम पर इस प्रकार परिचय दिया है: ‘उपनाम खुमान राउत गुहलौत, चित्तौर (मेवाड़) के राजा, ८३० ई. में उपस्थित। इनके नाम से ‘खुमान रायसा’ बनाया गया। यह मेवाड़ की प्राचीनतम पद्यबद्ध वंशावली है और नवीं शती में लिखा गया था। इसमें खुमान राउत और उनके वंश का इतिहास है। प्रतापसिंह (१५७५ में उपस्थित) के शासनकाल में इसका पुनः संस्कार हुआ और जिस रूप में यह आज उपलब्ध है उसमें प्रताप और अकबर तक के युद्धों तक का वर्णन है और एक पर्याप्त बड़े अंश में तेरहवीं शती में चित्तौर पर डाले हुए अलाउद्दीन खिलजी के घेरे का वर्णन है। अतः ऐसा समझा जा सकता है कि इस समय इस ग्रंथ की जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं वे मेवाड़ की उस बोली में हैं, जो १६वीं शताब्दी के अंत के बाद की नहीं है।’ (अनुवादक

संपादक किशोरीलाल गुप्त, पृ. ७१-७२)

इस पर संपादक की टिप्पणी है: ‘खुमान रासो के रचयिता तपागच्छीय जैन कवि दौलत विजय है। दीक्षा के पूर्व इनका दलपत था। ग्रंथ की रचना सं. १७६७ और १७९० वि. के बीच किसी समय हुई। इसमें राणा प्रताप के बाद के भी अन्य सात राजाओं का विवरण है। इसमें वर्णित अंतिम राजा संग्राम सिंह द्वितीय है। ग्रंथ राजस्थानी भाषा में है। यह ग्रंथ नवीं शती का नहीं है और न किसी खुमान के ही नाम पर यह रचा गया। खुमान चित्तौड़ के राजाओं की सामान्य उपाधियों में से एक है। राणाप्रताप के समय में इसके परिवर्द्धित होने की बात भी मिथ्या है। सर्वेक्षण १३७।

अन्य विद्वानों ने भी लगभग इन्हीं बातों को दोहराया है। उदय सिंह भटनागर और ह. प्र. द्विवेदी का मत अवश्य भिन्न है। भटनागर कहते हैं: ‘‘खुमान रासो’’ को लेकर हिंदी साहित्य और इतिहासके क्षेत्र में जो विवाद चला वह निराधार मालूम होता है। ‘शिवसिंह सरोज’ ने कभी भी दलपत विजय या दौलतविजय कृत ‘खुमानरासो’ की चर्चा नहीं की, फिर इन दोनों को एक मान लेना और उस पर इतना बड़ा विवाद खड़ा करना अप्राप्य है और उसके स्थान पर १८वीं शती में दलपत विजय (या दौलत विजय) द्वारा रचित ‘खुमाणरासो’ को रखकर विवाद का पहाड़ खड़ा करने का उद्देश्य ‘रासो’ नामक प्रबंध रूपकों को जाली ठहराना ही मालूम होता है।’ (हि.सा., खण्ड २, पृ. ५२१) दूसरी ओर द्विवेदी जी ने मोतीलाल मनेरिया जी के साक्ष्य पर ‘खुमान रासो’ को १७३० से १७६० के मध्य तक की रचना मानकर लिखा है: – ‘इस प्रकार इस ग्रंथ की चर्चा हिंदी साहित्य के आदिकाल में नहीं होनी चाहिए।’ (हि.सा.उ.वि., पृ. ४०)

प्रा. डॉ. (अब स्वर्गीय) कृष्णचंद्र श्रोत्रिय (उदयपुर, राज.) ने अपने शोध प्रबंध ‘दलपति विजयकृत खुम्माण रासो’ (महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर की ओर से डॉ. ब्रजमोहन जाबलिया के संपादन में १६.०६.१९९९ को तीन खंडों में प्रकाशित और राजस्थानी ग्रंथागार, सोजती गेट, जोधपुर (राज.) से प्राप्य) के पहले खंड में ‘खुम्माण रासो: सामान्य विवेचन’ शीर्षक पंचम अध्याय में विभिन्न

उपशीर्षकों के अंतर्गत रचयिता और रचना का जो परिचय दिया है वह संक्षेप में इस प्रकार है: 'खुम्माण रासो की रचना एक जैन साधु दलपति विजय ने अठारहवीं शती के अंतिम चरण में की थी। इसमें बाप्पा रावल से महाराणा राजसिंह तक के मेवाड़ के राणाओं का इतिहास वर्णित है। इसके अतिरिक्त ग्रंथ के दूसरे, तीसरे और चौथे खंड में खुम्माण के संबंध में एक काव्य भी है। ग्रंथ में कुल आठ खंड हैं। आठवाँ खंड खंडित है। इसमें महाराणा रत्नसिंह से महाराणा राजसिंह के राजसमुद्र बाँध तक का वर्णन पाया जाता है। इससे आगे के पत्र लुप्त हो गये हैं। कहा नहीं जा सकता कि इसके कितने पत्र लुप्त हुए हैं और उनमें किन-किन राजाओं का वर्णन हुआ है। चतुर्थ खंड के अंत में महाराणा संग्राम सिंह दूसरे तक का वर्णन हो। इस प्रकार यह मेवाड़ के राजवंश का एक ऐतिहासिक काव्य है। इस खंडित प्रति की छंद संख्या ३६७५ है।' खुम्माण के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती राजाओं का इसमें वर्णन होने पर इसमें खुम्माण का चरित्र मुख्य और विस्तृत रूप में वर्णित होने के कारण डॉ. श्रोत्रिय इसमें खुम्माणरासो नाम को सार्थ मानते हैं। दूसरे वे इसे इसलिए भी उपयुक्त मानते हैं क्योंकि खुम्माण के कारण यह मेवाड़ के राणाओं की वंशपरंपरागत उपाधि है। उन्होंने यह भी लिखा है कि 'ग्रंथकर्ता ने अपना नाम 'दलपति' और 'दौलत' दोनों बतलाए हैं और ग्रंथ में ये दोनों ही नाम प्रयुक्त हुए हैं, किंतु ग्रंथ के पृथक्-पृथक् खंडों के छह पुष्पिका-लेखों में से पाँच में 'दौलत विजय' नाम दिया हुआ है और एक कवि 'दलपति' का उल्लेख हुआ है। '...कवि ने अपना नाम दलपति ही अधिक बतलाया है और ग्रंथ की रचना दीक्षा लेने के पश्चात् हुई है, क्योंकि ग्रंथ में कवि ने अपने को तपागच्छ कुल के गुरुओं का शिष्य होने का कई स्थलों में उल्लेख किया है' अतः दलपतिविजय और दौलतविजय दोनों ही नाम दीक्षा के पश्चात् के हो सकते हैं।'

कवि ने कई जगह अपने लिए 'कमलासुत' और 'देवीसुत' शब्दों का प्रयोग किया है, अतः श्रोत्रिय ने उनकी माता का नाम 'कमला' और पिता का नाम 'देवी' मान लिया है। साथ ही कई स्थलों पर प्रयुक्त 'विदुर' शब्द को लक्ष्यार्थ में ग्रहण करते हुए 'महाभारत' के विदुर के साथ

जोड़कर उन्हें दासीपुत्र बताया है। प्रमाण में उन्होंने यह भी कहा है कि राजपूताने में दासीपुत्र को विदुर कहते हैं। दरोगा जाति विदुर कहलाती है। संभव है, दलपति जन्म से दासीपुत्र हैं।' अंतःसाक्ष्य के आधार पर उनके गुरु तपागच्छीय शांतिविजय, इष्टदेवी त्रिपुरा देवी तथा एकमात्र शिष्य श्याम सिंह थे। 'कवि ने उसके (श्याम सिंह के) आग्रह से ग्रंथ के पंचम खंड की रचना की थी।' (पृ. १३७-१४२)।

ग्रंथ के रचनाकाल पर विभिन्न विद्वानों के मतों के अतिरिक्त अंतःसाक्ष्य तथा बहिःसाक्ष्य पर विचार करते हुए डॉ. श्रोत्रिय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'दलपतिविजय कृत 'खुम्माणरास' की रचना महाराणा संग्रामसिंह दूसरे के राजत्वकाल वि.सं. १७६७-९० के बीच कभी हुई है।' (पृ. १४७) वैसे भण्डारकर इंस्टीट्यूट, पूना की प्रति के प्रतिलिपिकर्ता हेतविजय गणि द्वारा 'खरतर गच्छीय साधु लक्ष्मीवल्लभ-रचित 'विक्रमादित्य पंचदंड रास' नामक ग्रंथ की वि.सं. १८२० में की गई प्रतिलिपि के आधार पर 'खुम्माण रास' की उसकी प्रतिलिपि को भी वि.सं. १८२० के आसपास की मानते हुए डॉ. श्रोत्रिय उक्त निष्कर्ष से तत्काल-पूर्व यह कह चुके हैं कि 'किसी ग्रंथ की प्रतिलिपि होने में उसकी रचना से २५-३० वर्ष का समय लग सकता है। अतः इस अनुमान से 'खुम्माण रास' की रचना वि.सं. १७९० के आसपास ठहरती है। (पृ. १४७)

डॉ. ब्रजमोहन जावलिया ने अपने संपादकीय में इन सभी बातों पर पुनः विचार किया है और विभिन्न मतों एवं सूचनाओं के उल्लेख के साथ अपनी सहमति-असहमति व्यक्त की है। यथा, रचनाकाल के विषय में डॉ. डॉ. से लेकर अन्यान्य विद्वानों के मतों का संकेत करते हुए उन्होंने 'रचनाकाल और रचयिता के विषय में युक्तियुक्त प्रकाश डालने का सर्वप्रथम श्रेय (स्व) श्री अगरचंद नाहटा, मोतीलाल मेनारिया को देते हुए रामचंद्र शुक्ल तथा डॉ. रामकुमार वर्मा आदि की कल्पना कि 'खुम्माण रास' के अनेक संस्करणों की विभिन्न कालों में रचना हुई होगी के डॉ. श्रोत्रिय द्वारा किए गए अस्वीकार को मान्य करते हुए कहा है: "इस बात में कोई संदेह नहीं है कि 'खुम्माण रास' के विभिन्न संस्करणों के विषय में इन विद्वानों के पास कोई आधार या प्रमाण नहीं था। यह मात्र उनकी

कल्पना की उड़ान थी... पर वास्तविकता यह है कि प्रस्तुत वृहद् संस्करण से पूर्व स्वयं दलपति विजय ने एक लघु संस्करण की रचना सं. १७७२ की वैशाखी तृतीय गुरुवार के दिन पूर्ण की थी। इस रचना में उसने बापा रावल की आठवीं पीढ़ी में हुए रावल करण के पुत्र खुम्माण के चरित्र का काव्यात्मक वर्णन किया था और काव्य का नामकरण किया था 'खुम्माण चरित्र'। इस काव्य में तीन खंड हैं। काव्य की रचना प्राचीन रास शैली में दूहा, कवित, चौपई, गाहा, सोरठा, सवैया, चंद्रायणा, अर्थ-नाराच, श्लोक, मोतीदाम, निसाणी और डिंगल के झमाल और त्रिबंकी गीतों के साथ दोहाबंध, चौपाईबंध और जालीबंध, धन्यासरी, खंभाइची आदि रागों में बंध ढालों में की थी। इन ढालों के लिए प्राचीन लोकप्रचलित देशी गीतों आदि को आधार बनाया गया था, जिनका निर्देश ढालों के आदि में ही कर दिया गया है। प्रतीत होता है इस रचना में कवि का उद्देश्य अपने संप्रदाय के अनुनायियों में शील, सतीत्व और स्वदेश-भक्ति का प्रचार करना रहा होगा। काव्य में कुल ४६ ढालों की रचना की गई है। डॉ. जावलिया का यह कथन उन्हें प्राप्त इसकी दो प्रतियों पर आधारित है। उनका यह कथन यह भी है कि "इसके तृतीय खंड की अंतिम ढाल के ग्यारहवें द्वाले से ज्ञात होता है कि दलपति विजय ने 'करण खुमाण चरित्र' की रचना किन्हीं ऋद्धि विजय के आग्रह से की थी।... संभव है, वह दलपति विजय का गुरुभाई यति रहा हो।"

माता-पिता के नाम तथा दलपति की जाति से संबंधित डॉ. श्रोत्रिय की उद्भावना से डॉ. जावलिया अपनी असहमति व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार 'ये दोनों ही नाम कमला और देवी एक दूसरे के पर्याय के रूप में उसकी आराध्या देवी 'त्रिपुरा' के लिए प्रयुक्त हुए हैं।' इसी प्रकार न तो विदुर शब्द हेय जाति का सूचक है और न ही मथेण शब्द। विवाहित या गृहस्थ जैन यति के लिए मथेण का तथा पंडित अर्थ में विदुर शब्द का प्रयोग कवि ने किया है, ऐसा जान पड़ता है। दलपति विजय ने अपनी गुरु परंपरा के नामों के साथ 'पंडित' उपाधि का प्रयोग किया है और इसी परंपरा में स्वयं को भी उसी 'पंडित' उपाधि से मंडित किया है। ... यह 'पंडित' की उपाधि

उसको लघु संस्करण की रचना के समय संवत् १७७३ वि. में भी प्राप्त थी।

'खुमाण रासो' के विषय में डॉ. श्रोत्रिय के इस संपादित संस्करण के आ जाने के बाद, अब आदिकाल में इसका उल्लेख बंद कर दिया जाना चाहिए और विद्वानों को चाहिए कि वे डॉ. श्रोत्रिय के इस ग्रंथ को सावधानी से पढ़कर सही तथ्यों का पता लगाएँ, क्योंकि इसके लेखक तथा संपादक दोनों ने ही कुछ बातों के प्रति असावधानी बरती है।

भट्ट केदारकृत 'जयचंद-प्रकाश' तथा मधुकर कविकृत 'जयमयंक-जसचंद्रिका' को शुक्ल जी ने संवत् १२२४ से १२४३ के बीच रखते हुए तीन बातें विशेष कही हैं: १. रासो में चंद और भट्ट केदार के संवाद का एक स्थान पर उल्लेख है। २. इनका उल्लेख सिंघायच दयालदासकृत 'राठौड़ों की ख्यात' में मिलता है। तथा ३. भट्ट-भणंत पर यदि विश्वास किया जाय तो केदार महाराज जयचंद के कवि नहीं, सुलतान शहाबुद्दीन गोरी के कविराज थे। शुक्ल जी ने यह अंतिम बात पाद-टिप्पणी में कही है और उसके साथ 'शिवसिंहसरोज' कथित भाटों की उत्पत्ति से संबंधित एक कवित्त भी जोड़ा है जिसमें 'चंद चौहान के केदार गोरी साहजू के गंग अकबर के बखाने गुनगात है।' चरण में केदार भट्ट को गोरी का गुणगायक कहा गया है। (हि.सा.इ. पुन. पृ. ४३)

द्विवेदी जी ने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में क्रमशः पृष्ठ १६ और ३० पर दोनों के विषय में काफी विस्तार से विचार किया है और इन्हें नोटिस-मात्र माना है। उनका कहना है कि इन दोनों की 'चर्चा रासो में भी मिलती है और हिंदी की अन्य पुस्तकों में भी कुछ चर्चा मिल जाती है। ये गोरी-दरबार के कवि गताए गए हैं।' (पृ. १६) शुक्ल जी द्वारा उक्त भट्ट-भणंत पर संदेह व्यक्त किए जाने को लेकर वे कहते हैं:- "परंतु रासो के अट्टावनवें समय में सचमुच ही एक दुर्गा केदार भट्ट की विस्तृत चर्चा है जो शहाबुद्दीन के दरबार से आया था और कवि चंद के साथ उसका केवल वाग्युद्ध ही नहीं हुआ था बल्कि तंत्र मंत्र के जोर की आजमाइश भी हुई थी। इस प्रकार यह बात केवल भट्ट-भणंत नहीं है, किसी पुरानी अनुश्रुति की

स्मारक है। इसी प्रकार रासो के उन्नीसवें समय में माधो भाट को शहाबुद्दीन का राजकवि बताया गया है। यह व्यक्ति शहाबुद्दीन का विश्वासपात्र था और वह पृथ्वीराज के दरबार की गुप्त खबरें संग्रह कर रहा था। वह कई भाषाएँ बोल सकता था। हिंदुओं से तो हिंदुओं की भाषा बोलता था और मुसलमानों से मुसलमानों की।धर्मायन (ध्रमाइन) कायस्थ ने इस कवि को दरबार के भेद बता दिए थे। इन बातों से जान पड़ता है कि शहाबुद्दीन के दरबार में हिंदू भाट सम्मान पाते थे। संभवतः पंडित रामचंद्र शुक्ल जिसे मधुकर भट्ट कहते हैं वे माधो भाट ही हो। यह बात संभव जान पड़ती है। क्योंकि महमूद ने बहुत थोड़ा पहले ही गजलनी के ब्राह्मण राजाओं से राज्य छीना था और वहाँ तब भी बहुत से हिंदू थे और पुराने बंदीजन भी उसके आश्रय में रह गए हों तो आश्चर्य करने की बात नहीं है। जो हो, इससे केवल इतना सिद्ध होता है कि सुदूर गजनी में भी कुछ भाषा-कवि वर्तमान थे; परंतु उनकी कविता कैसी होती थी, भाषा कैसी थी, यह जानने का कोई उपाय नहीं है।” (पृ. ३०) इसी क्रम में द्विवेदी जी आगे यह भी कहते हैं ‘शिव सिंह सरोज (पृ. ३६०) में बताया गया है कि केदार कवि अलाउद्दीन गोरी के दरबार में रहता था। ‘गोर’ गजनी के उत्तर-पश्चिम में एक पहाड़ी इलाका है। वहाँ पहले हिंदुओं की बस्ती भी थी और राज्य भी था। सुलतान महमूद के काल में ये लोग मुसलमान होने लगे। महमूद के बाद भी गजनी के अधिकार में ही गोर का इलाका था। सुलतान बहराम ने गोर के सरदार कुतुबुद्दीन और उसके सईफुद्दीन को क्रूरतापूर्वक मरवा डाला। इनका एक और भाई अलाउद्दीन गोरी था।” इसी का भतीजा मुहम्मद गोरी, अन्य नाम शहाबुद्दीन गोरी था, जिसने भारत पर आक्रमण किया था। अलाउद्दीन थोड़ा पहले हिंदुओं का राज्य था और उसका वंश भी संभवतः एकाध पुस्त पहले ही मुसलमान हुआ था। तुर्कों की तरह वे पुश्तैनी मुसलमान नहीं थे। इसलिए यह संभव जान पड़ता है कि माधव और केदार भट्ट अलाउद्दीन गोरी के दरबार में रहे हों और शहाबुद्दीन ने भी उन्हें अपना विश्वास पात्र समझा हो। बाद में जयचंद्र के पतन के बाद लोगों में यह धारणा बन गई हो कि ये लोग जयचंद्र के वि होंगे, क्योंकि राजपुताने

में इस प्रकार का विश्वास किया जाने लगा कि जयचंद्र मुम्मद गोरी का मित्र था। रासो में तो जयचंद्र की मुसलमानी सेना का भी उल्लेख है।” (पृ. ३१)

इतना होने पर द्विवेदी जी कहते यही है कि ‘भट्ट केदार और भट्ट मधुकर गोरी दरबार के कवि हों या जयचंद्र के दरबार के, उनकी रचनाओं का कुछ पता नहीं चलता और इसीलिए उनके संबंध में कुछ कहना संभव नहीं है। (पृ. वही) अपने ‘हि.सा.उ.वि.’ में भी वे इन्हीं बातों को संक्षेप में और शब्दांतर के साथ दोहराते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि “जो हो, जब तक इन कवियों की पुस्तके नहीं मिल जाती, तब तक इस विवाद में पड़ना व्यर्थ है कि ये कवि जयचंद्र के दरबारी थे अथवा गोरी के। (पृ. ४२)

यहाँ कई प्रश्न मन में उठते हैं। यथा, रासो (पृथ्वीराज रासो) के जिन अट्ठावनवें और उन्नीसवें समय में क्रमशः मधुकर भट्ट तथा माधो भाट की चर्चा आई है उनमें आने वाली कथा या घटना-विशेष कौन सी है? क्या द्विवेदी जी ने उन्हें प्रामाणिक ग्रंथ माना है और माना है तो क्या वे उनके द्वारा संपादित ‘संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो’ में सम्मिलित हैं? २. क्या इन दोनों का उल्लेख करने वाली सिंघायच दयालदास कृत रचना ‘राठौड़ों की ख्यात’ किसी आधार पर अप्रामाणिक रचना सिद्ध है कि उसके उल्लेख को न माना जाय? ३. क्या भट्ट भणन्त को तो स्वीकार कर लिया जाय और उससे इन दोनों का कवि होना प्रामाणिक मान लिया जाय, किंतु दूसरे रचनाकार के उल्लेख और जनश्रुति को नितांत उपेक्षणीय मान लिया जाय? इस संबंध में एक बात तो यह लक्षणीय है कि सिंघायच दयालदास की इस ख्यात को किसी ने अप्रामाणिक नहीं माना है, बल्कि यथासवर उसका प्रमाणस्वरूप उपयोग किया है। जहाँ तक रासो के माधो भाट और केदार कवि से संबंधित समयों का संबंध है, ‘संक्षिप्त पृथ्वीराजरासो’ में दोनों ही ग्रहण नहीं किए गए हैं, यद्यपि ‘माधव भाट कथा पातिसाह ग्रहन राजा विजय नाम उन विसमो प्रस्ताव’ में समाप्ति पर शुक शुकी का उल्लेख है, जिसे द्विवेदी जी रासो के लिए आधारभूत प्रमाण मानते हैं। अट्ठावनवें ‘दुर्गा केदार समय’ में शुक-शुकी संवाद अवश्य नहीं है। फिर भी यह महत्वपूर्ण है कि इच्छिनी विवाह के समान ये दोनों समय रासो के बृहद तथा

मध्यम दोनों संस्करणों में पाये जाते हैं। इन सूचनाओं के आधार पर यद्यपि इन दोनों कवियों को हिंदी साहित्य के आदिकाल में स्थान मिलना चाहिए, तथापि क्योंकि साहित्येतिहास में अनिवार्यतः किसी कृति का होना जरूरी है, अतः उसके अभाव में अधिकृत रूप में इनके विषय में इनके नामोल्लेख के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। इसीलिए द्विवेदी जी ने शुक्ल जी की शब्दावली में इनकी तथाकथित कृतियों को 'नोटिस-मात्र' कहा है। (हि.सा.आ.,पृ. १६)

थोड़ा अप्रासंगिक होते हुए भी चेतावनी-स्वरूप यहाँ यह सूचित कर देना अनुचित न होगा कि श्री गंगाप्रसाद कमठान ने भारतीय हिंदी परिषद्, इलाहाबाद, उ.प्र.) की मुख-पत्रिका 'हिंदी अनुशीलन' वर्ष १०, अंक ४ में 'रासो के माधव, केदार भट्ट, भट्ट भणंत हैं' शीर्षक लेख में गार्सा द तासी कृत 'हिंदुई साहित्य का इतिहास' में कवि केदारकृत किसी 'कल्प केदार' रचना के उल्लेख की बात कही है, जो तांत्रिक रचना बताई गई है। श्री वेदप्रकाश गर्ग ने अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य की भ्रांतियाँ और उनका निराकरण' में श्री कमठान की धारणाओं का खंडन किया है। उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि तासी ने 'कल्प केदार' के साथ उसके रचयिता के रूप में केदार कवि का नाम नहीं लिया है और "....ग्रियर्सन ने अपने किसी निबंध में भी केदार कवि रचित 'कल्प केदार' का कोई परिचय नहीं दिया है।" (पृ. २३-२४)

जगनिककृत 'परमाल रासो' भी संदेह के घेरे में ही है। इस कवि का तो नाम तक भी भिन्न-भिन्न दिया गया है। ग्रियर्सन इसका उल्लेख यदि जगनिक या जगनायक कहकर करते हैं तो द्विवेदी जी उसे जगनिक का नाम देते हैं। उसकी मूल कृति नहीं मिलती, आल्हा के नाम से अलग-अलग लोगों के द्वारा छपाई गई पुस्तक अवश्य मिलती है, जिनमें परस्पर भाषा तथा कथ्य में भेद है। यह केवल लोककंठ में बसी हुई रचना है, असली 'परमाल रासो' या आल्हा की कोई हस्तलिखित प्रति प्राप्त नहीं है। मिश्रबंधुविनोद के अनुसार 'महोबे का जगनिक चंद का समकालीन था। कहते हैं कि उसने सबसे पहले आल्हा की रचना की। पर इस समय के आल्हा में जगनिक का शायद एक शब्द भी

नहीं मिलता, केवल ढंग उसका है। 'ग्रियर्सन ने जगनिक या जगनायक को बंदीजन और महोगा, बुंदेलखंड का बताते हुए ११९१ ई. में उपस्थित माना है और आल्हा के विभिन्न प्रकाशित संस्करणों के विषय में विस्तृत सूचनाएँ देने के अतिरिक्त इन्हें चंद कवि का समकालीन तथा महोबा बुंदेलखंड के राजा परमाल (परमर्दि) का दरबारी बताया है और कहा है कि इन्होंने परमाल और पृथ्वीराज के युद्धों का वर्णन किया है। उनके विचार से 'जनश्रुति के अनुसार, जो असंभव भी नहीं, आल्हाखंड जिसके अनेक रूपांतर सुलभ हैं और जो कभी-कभी चंद के महाकाव्य का एक प्रक्षिप्त खण्ड भी माना जाता है, मूलतः इसी कवि की रचना है। (पृ. ७७) शुक्ल जी जगनिक का समय सं. १२३० बताते हैं और 'परमाल रासो' नाम न लेते हुए आल्हा-ऊदल के वीर चरित तथा वीरगीतात्मक काव्य के रूप में इसकी चर्चा करते हैं। वे इसके सुरक्षित न रह पाने का कारण भी इसी वीरगीतात्मक काव्य के रूप को मानते हैं। "यदि यह ग्रंथ साहित्यिक प्रबंध-पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती।" (पृ. ४४) उनका अनुमान है कि "इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हा-खंड' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हा संबंधी ये वीर-गीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खण्ड के अंतर्गत थे जो चंदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। (पृ. ४५)

इसके विपरीत डॉ. माता प्रसाद गुप्त एक ही निबंध 'रास और रासक परंपराएँ' में दो प्रसंगों में अलग-अलग इसके विषय में विचार व्यक्त करते हुए भी जगनिक और आल्हा-खण्ड का नाम भी नहीं लेते। 'परमाल रासो' का परिचय देते हुए उनका कथन है- "इस नाम की कोई कृति मिलती नहीं है, केवल 'महोबा खंड' नाम से 'पृथ्वीराज रासो' के एक अंश के रूप में प्रस्तुत की गई कृति को डॉ. श्याम सुंदर दास ने संपादित किया था। यह सं. १९७६ वि. में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुई है। इसका रचयिता अज्ञात है। प्रतियों में इसका रचयिता भी चंद कहा गया है। 'पृथ्वीराज रासो' के वृहद पाठ में मिलने वाले महोबा खंड का यह एक परिवर्द्धित रूप मात्र है और

आश्चर्य है कि डॉ. श्याम सुंदर दास ने ही, जिन्होंने 'पृथ्वीराज रासो' के उक्त पाठ का संपादन किया था, इसे एक स्वतंत्र रचना माना, यद्यपि 'पृथ्वीराज रासो' के उक्त संस्करण के महोगा खण्ड के प्रायः सभी छंद इस रचना में मिल जाते हैं। इस महोगा खण्ड की रचना अवश्य ही 'पृथ्वीराज रासो' के बाद हुई होगी, जब किसी को 'पृथ्वीराज रासो' में यह कमी प्रतीत हुई होगी कि पृथ्वीराज और परमाल के इतिहास प्रसिद्ध युद्ध का इसमें उल्लेख नहीं है। महोबा खंड की प्रतियाँ भी 'पृथ्वीराज रासो' की प्राचीनतम प्रतियों से बहुत पीछे की मिलती हैं, वे उन्नीसवीं शती विक्रमी की हैं। अतः असंभव नहीं कि यह महोगा खण्ड सोलहवीं शती विक्रमीय की रचना हो।" (रा.सा.वि., पृ. १४) कुछ ही पन्नों के अंतराल से वे 'काव्यरूप की दृष्टि से विचार' उपशीर्षक के अंतर्गत इसकी कथा को सांकेतिक रूप में बताते हुए कहते हैं: "इस कथा में जगनिक परमाल का राजकपि है, जैसे 'पृथ्वीराज रासो' में चंद पृथ्वीराज का।" (वही, पृ. २५) बात सही होते हुए भी अस्पष्ट है और इससे साहित्येतिहास संबंधी शंका का निरसन नहीं होता।

द्विवेदी जी 'हि.सा.आ.' में परमर्दी के पृथ्वीराज से ११८२ई. में तथा कुतुबुद्दीन से १२०३ ई. में हुए युद्ध के 'इन बीस वर्षों के भीतर ही कभी जगनिक का वह ओजपूर्ण काव्य लिखा गया होगा "कहने के साथ-साथ यह भी कहते हैं कि वह 'बहुत दिनों तक आल्हा और ऊदल की स्मृति में लोककंठ में जीता रहा और बहुत दिनों तक अपने क्षेत्र में ही सीमित बना रहा। फिर कई सौ वर्ष बाद अत्यंत परिवर्तित रूप में लिखवाया गया। यह स्वाभाविक भी है था। क्योंकि जब काव्य के आश्रयदाता राजा उच्छिन्न हो गए तो उसका एकमात्र सहारा जनचित्त ही रह गया। किसी धर्म-संप्रदाय का तो उसे सहारा मिलना नहीं था, इसलिए वह काव्य बहुत परिवर्तित रूप में प्राप्त हुआ है, परंतु चंदेल-दरबार में भाषा-काव्य के सम्मानित होने का सबूत अवश्य देता है। (पृ. ३६)

द्विवेदी जी के इस कथन से एक संकेत तो यह मिलता है कि जगनिक का यह काव्य वि.सं. के पूर्व के दस वर्षों में लिखा गया होगा, सं. १२३० में या उसके इधर-उधर नहीं, जैसा कि शुक्ल जी द्वारा कविनाम के साथ आरंभ में

ही कोष्ठक में दिए गए सं. १२३० से प्रतीत होता है। दूसरा तथ्य यह कि यह ओजपूर्ण काव्य था, अतः इसके वीरगाथा होने में संदेह नहीं। तीसरा यह कि काव्यरूप की दृष्टि से यह वीरगीतात्मक मानते हैं और इसी कारण उसे लोककंठ में बसा हुआ मानते हैं। चौथे, द्विवेदीजी के अनुसार यह बहुत दिनों तक अपने क्षेत्र अर्थात् महोबा बुंदेलखंड में ही बना रहा फिर कई सौ वर्ष बाद अत्यंत परिवर्तित रूप में लिखवाया गया, परंतु किसने, कब, क्यों अत्यंत परिवर्तित रूप में लिखा के विषय में वे कोई अता-पता देना जरूरी नहीं समझते ज्ञात होते। पाँचवे, शुक्लजी राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित न होने के लिए इसके गीतात्मक स्वरूप को कारणीभूत मानते हैं और उसी कारण पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी ओर न बढ़ने की बात भी कहते हैं, किंतु द्विवेदी जी सीधे-सीधे राजाओं के उच्छिन्न हो जाने को कारण बताकर किसी धर्म-संप्रदाय से उसे सहारा मिलने की संभावना का पता ही काट देते हैं। वह शायद इसलिए कि, जैसा उस काल तक के जैनकाव्यों के संदर्भ में देखने को आया धार्मिकों-सांप्रदायिकों की रुचि धर्माचरण और नीत्युपदेश की रचनाओं में ही थी, वैसे ही कदाचित् अन्य धर्म-संप्रदायों में भी रही हो। शुक्ल जी और द्विवेदीजी की धारणाओं में यह अंतर तो है ही, यह भी है कि द्विवेदी जी इसके पूर्व शुक्ल जी के कथन "जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है... को उद्धृत करते हुए "सो यह भी नोटिस मात्र से कुछ अधिक दाम नहीं" का फैसला सुना चुकते हैं (हि.सा.आ., पृ. १६) साथ ही वहीं पाद टिप्पणी में आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं: 'यद्यपि जगनिक के विषय में निश्चित रूप से कहना कठिन है तथापि अनुमान से समझा जा सकता है कि इस कवि ने यदि 'आल्हाखंड' की रचना कभी की भी हो तो वह रचना बुंदेलखंड की सीमा के बाहर बहुत दीर्घकाल तक अपरिचित रही। यह देखकर थोड़ा आश्चर्य ही होता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने इस अत्यंत लोकप्रिय गीत पद्धति को राममय करने का प्रयास क्यों नहीं किया। लेकिन यह नकारात्मक दलील हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती।' (वही) द्विवेदी जी के इन सब कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जगनिक और 'परमाल रासो' के विषय में

द्विवेदी जी का रुख कुछ लचीला है।

नरपतिनाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' के विषय में भी उसके रचनाकाल, उसकी ऐतिहासिकता तथा भाषा को लेकर बड़े संदेह हैं। विवाद लंबा है और इसी पत्रिका के विगत एक अंक में डॉ. शशिभूषण 'शीतांशु' इस कृति पर विचार कर चुके हैं। इसी प्रकार चंदबरदाई कृत पृथ्वीराजरासो पर तो विवाद का कहीं अंत ही नहीं दिखता। अतएव अभी हम दोनों को क्रमशः संदिग्ध तथा अर्द्धप्रामाणिक मानी गई रचनाओं के रूप में गृहीत मानकर इस काल के अंतर्गत मान्य कर ली गई विद्यापतिकृत 'कीर्तिलता' एवं 'कीर्तिपताका' के विषय में ध्यान आकर्षित करते हुए इस काल में रचित कुछ रासो-संज्ञक उन रचनाओं की ओर मुड़ते हैं तो बाद की खोज में प्राप्त हुई और जिन्हें द्विवेदीजी सहित अन्य समकालिक विद्वान स्वीकार करते हैं। डॉ. सुमन राजे ने अपने पूर्वोक्त ग्रंथ में कुल २११ रासो काव्यों का विवरण दिया है। डॉ. कृष्णचंद्र श्रोत्रिय ने 'खुम्माण रासो (रासो काव्य परंपरा)' शोध प्रबंध के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में क्रमशः अपभ्रंश एवं प्राचीन राजस्थानी, राजस्थानी अथवा उिंगल तथा पिंगल के रासो काव्यों का विवरण दिया है। डॉ. माता प्रसाद गुप्त ने 'हिंदी साहित्य (द्वितीय खंड)' तथा 'रासो साहित्य विमर्श' में रासो काव्यों का परिचय दिया है।

हो सकता है कि इधर-उधर कुछ और रासो-काव्य भी मिल जाएँ। इन सबमें से कुछ के विषय में विद्वानों में रचयिता के नाम तथा रचनाकाल के विषय में कहीं-कहीं थोड़ा मतभेद भी मिलेगा। हमारा उद्देश्य यहाँ केवल साहित्येतिहास की दृष्टि से यह बताना मात्र है कि आदिकाल की साहित्यिक प्रवृत्ति निश्चित करने में इस सामग्री का भी ध्यान रखना होगा। शुक्ल जी के समय तक इसमें से अधिकांश सामग्री प्रकाश में नहीं आई थी। साथ ही इधर 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता के विवाद से थककर यह भी माना जाने लगा कि इसका कुछ न कुछ मूल अंश ऐसा अवश्य है जिसे प्रामाणिक और चंद बरदाई-कृत माना जा सकता है, और वह काव्यत्व की दृष्टि से ऐसा उत्कृष्ट भी है कि उसका पठन-पाठन होना चाहिए। इस दृष्टि से रासो के तीन पाठ सामने आए: १. डॉ. विपिन

बिहारी त्रिवेदी द्वारा संपादित 'रेवातट समय', २. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. नामवर सिंह द्वारा संपादित 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' तथा ३. डॉ. माता प्रसाद गुप्त द्वारा धारणोज की प्रतिके आधार पर संपादित 'पृथ्वीराज रासड'। अतः यह भी विचारणीय है कि इनमें से किस या किन-किन पाठों को स्वीकार किया जाय। इस विषय में, और अन्यथा भी, डॉ. राजमल बोरा की पुस्तक 'पृथ्वीराज रासो: इतिहास और काव्य' (प्रका. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प.सं. १९७४ ई.) महाराजकुमार डॉ. रघुवीर सिंह की भूमिका सहित विशेष अध्येतव्य है।

इन सब पर लौट कर विचार करें तो पूर्वोक्त समचियों में से केवल वज्रसेन सूरि-कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' तथा शालिभद्र सूरि-कृत 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' ही दो ऐसी रचनाएँ हैं जो धर्म-विशेष की परिधि में आते हुए भी वीरकाव्य की श्रेणी में आती हैं। शेष रचनाएँ धर्मोद्देशपरक, नीतिपरक, मंदिर-निर्माण संबंधी इतिहास-परक, इतिवृत्तात्मक अथवा किसी धार्मिक व्यक्ति के चरित से संबंधित हैं और छोटे-मोटे खण्डकाव्य जैसी हैं। इनमें से कोई भी गरिमामय प्रबंधकाव्य के स्तर की नहीं है।

शुक्ल जी ने आदिकाल संबंधी विवेचन को क्रमशः चार प्रकरणों में विभाजित किया है। सामान्य परिचय नामक प्रकरण १ का आरंभ करते हुए वे पहले वाक्य में ही स्पष्ट कर देते हैं कि 'प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है।' वे अपभ्रंश को प्राकृताभास हिंदी भी कहते हैं और उसके दो रूपों का पृथक बोध कराते हुए उसके सबसे पुराने पद्यों की प्राप्ति के लिये विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की रचनाओं का उल्लेख करते हैं। पर वे उन्हें सांप्रदायिक रचनाएँ कहकर शुद्ध साहित्यिक रचनाओं से उन्हें अलग कर देते हैं। भाषिक व्यवहार के रूप में, इस तरह, हिंदी का आरंभ उन्हें सातवीं शती विक्रमी से ही मान्य है, पर उसका साहित्यिक रूप, उनकी दृष्टि में मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) ही प्रकट होता है। साहित्यिक रचना की दृष्टि से वे इस काल का आरंभ और पहले अर्थात् संवत् ७७० में पुष्य नामक बंदीजन (द्विवेदी जी ने

अपने दोनों इतिहास-ग्रंथों में किसी भ्रमवश प्रसिद्ध कवि पुष्पदंत से इसे अभिन्न बताया है। डॉ. भोलाशंकर व्यास तथा डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी क्रमशः 'हिं.सा.वृ.इति'. तथा 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (प्रका. मानकचंद बुक डिपो, उज्जैन, प्र.सं.) में इस धारणा का खंडन कर चुके हैं। पूष या पुष्य संबंधी विस्तृत विवरण के लिए देखिए श्री वेदप्रकाश गर्ग लिखित 'हिंदी साहित्य की भ्रांतियाँ और उनका निराकरण' पृ. ३-८ तथा ११-१२) तक ले जा सकने को तैयार थे, यदि उसके किसी अलंकार ग्रंथ के लेखक होने की बात केवल अनुश्रुति न रहकर प्रमाण-पुष्ट हो जाती। वैसा न होने के कारण वे साहित्य-रचना वाले काल-खंड आदिकाल को 'संवत् १०५० से लेकर संवत् १३७५ तक अर्थात् महाराज भेज के समय से लेकर हम्मिरदेव के समय के कुछ पीछे तक' मानते हैं। उनका यह भी मत है कि 'आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम उड़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता है.... धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का आरंभ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, श्रृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे उसी प्रकार अपने आश्रयदाताओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। यही प्रबंध-परंपरा 'रासो' के नाम से पाई जाती है जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा काल' कहा है।' (पृ. २, सं. प्र. संस्करण, सं. २००२) रासो या रासक सभी काव्य वीरकाव्य नहीं है, अतः शुक्ल जी का अंतिम कथन भ्रामक है। किंतु वीरगाथाकाल संबंधी उनकी धारणा स्पष्ट और निर्भ्रांत है। इतिहास में 'वीरगाथा काल', 'आदिकाल' के अंतर्गत तीसरा प्रकरण है। दूसरा प्रकरण 'अपभ्रंश काल' और चौथा प्रकरण 'फुटकर रचनाएँ' शीर्षक से है। 'अपभ्रंश काल' में मूलतः उन पद्यों तथा प्रबंध रचनाओं को आधार बनाया गया है, जो मूलतः हैं तो अपभ्रंश की पर उनमें हिंदी अथवा देशी भाषा की ओर विकास के चिह्न दिखाई देते हैं। सिद्धों, नाथ पंथियों के

अतिरिक्त आयार्च हेमचंद्र, सोमप्रभ सूरि, जैनाचार्य मेरुतुंग, कवि विद्याधर तथा शार्ङ्गधर के पद्यों के उदाहरणों तक ही अपभ्रंश रचनाओं की परंपरा सीमा का स्पष्ट निर्देश करते हुए शुक्ल जी विद्यापति को भी यह कहते हुए अंत में जोड़ देते हैं कि 'यद्यपि पचास साठ वर्ष पीछे विद्यापति (सं १४६० में वर्तमान) ने बीचो बीच में देशभाषा के भी कुछ पद्य रखकर अपभ्रंश में दो छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं, पर उस समय तक अपभ्रंश का स्था देशभाषा ले चुकी थी।' (पृ. २३ पुनः)

इसका अर्थ, हमारी समझ से, इतना ही होना चाहिए कि क्योंकि विद्यापति अपभ्रंश या अवहट्ट के अंतिम कवि हैं और उनकी अपभ्रंश में देसिल बयन की उपस्थिति, पद्य और गद्य दोनों में इस उत्कर्ष को पहुँच गई है कि उसके बाद देशी भाषा में ही रचनाएँ सामने आने लगीं, अतएव यही उसका निर्देश करके बात को समाप्त कर देना उचित प्रतीत हुआ। शुक्ल जी ने इस आधार पर आदिकाल की स्वनिर्धारित अंतिम सीमा को लाँघते हुए विद्यापति को आदिकाल के कवियों के साथ ला बैठाया, जबकि वे भली-भाँति जानते थे कि रचना की दृष्टि से विद्यापति लगभग आधी शती के बाद के हैं और समय का यह अंतर छोटा-मोटा अंतर नहीं है। इसका समर्थन यह कहकर करना कि जन्मकाल के हिसाब से 'विद्यापति आदिकाल की उत्पत्ति हैं तथा आदिकालीन काव्यपरंपरा के लक्षण उनकी 'कीर्तिलता' तथा कीर्तिपताका' में स्पष्टतः परिलक्षित होते हैं... (डॉ. भोला शंकर व्यास, हिं. सा.वृ.इति.प्र. भाग, पृ. ३९३) एक दुर्बल तर्क से अधिक कुछ नहीं है। कारण दो हैं। १. लक्षण तो खुम्माण रासो' जैसे कुछ और ग्रंथों में भी पाये जाते हैं, क्या हम उन्हें आदिकाल में ही रखें? २. यदि ये दोनों काव्य अप्राप्त होते या न लिखे गये होते, तो भी क्या 'विद्यापति-पदावली' और विद्यापति को आदिकाल में रखा जाता/ रखा जा सकता था? शुक्ल जी के बाद विद्यापति को आदिकाल में ही निबटा देने की अखंड परंपरा चल पड़ी। शुक्ल जी ने इतना तो ध्यान रखा कि उनकी मैथिल-हिंदी पदावली को 'फुटकर रचनाएँ' वाले चौथे प्रकरण में स्थान दिया। अन्यान्य साहित्येतिहासकारों ने, जहाँ प्रकरण-विभाजन को आधार नहीं बनाया, वहाँ

दोनों प्रकार की रचनाओं का घालमेल-सा हो गया। एक और बड़ी बात यह हुई कि शुक्लजी ने जिन 'कीर्तिलता' तथा खण्डित रूप में प्राप्त 'कीर्तिपताका' नामक दो अवहट्ट प्रबंध काव्यों को छोटी-छोटी कहकर संबोधित किया था उनमें से 'कीर्तिलता' को डॉ. रामसिंह तोमर इन शब्दों में याद करते हैं.... "....वर्णनों के अतिरिक्त 'कीर्तिलता' में काव्य की दृष्टि से और बहुत कम स्थान उल्लेख योग्य हैं।...- कीर्तिलता' की भाषा पर तत्कालीन मैथिली बोली का प्रभाव है। मूल रूपरेखा शौरसेनी अपभ्रंश की है। और तुरंत ही प्रश्न करते हैं: - 'परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न 'कीर्तिलता' की भाषा को बोलचाल की अपभ्रंश कहने पर उनकी मैथिल पदावली की भाषा को क्या कहा जायेगा? विद्यापति ने साहित्यिक अपभ्रंश में कृति की रचना की है, उस पर अपनी बोली का प्रभाव अवश्य है। अगले ही परिच्छेद में वे निर्णीत रूप में कहते हैं: 'विद्यापति की कृतियों में अपभ्रंश का स्वाभाविक रूप नहीं मिलता, अब्दुल रहमान और विद्यापति दोनों ही व्याकरण के सहारे कदाचित् अपभ्रंश लिख रहे थे, इससे उनकी भाषाओं पर समकालीन भाषाओं का प्रभाव मिलता है, किंतु अपभ्रंश पर अब्दुलरहमान का विद्यापति की अपेक्षा अच्छा अधिकार था।... (हिंदी साहित्य, प्रथम खंड, पृ. ४२६)

डॉ. तोमर के आक्षेप का किसी ने विचार किया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। इतना अवश्य है कि अन्यान्य हिंदी विद्वान इस बात से सहमत हैं कि विद्यापति ने उक्त दोनों काव्यों की रचना अवहट्ट भाषा में की है और पदावली की भाषा मैथिली-हिंदी है। बोलचाल की अपभ्रंश नहीं। इतना तो स्वयं शुक्ल जी ने ही जोर देकर स्पष्ट कर दिया था कि पदावली में 'इन्होंने अपने समय की प्रचलित मैथिली भाषा का व्यवहार किया है। ओर 'मागधी' से निकली होने के कारण हिंदी से अलग 'उसे वैसे ही नहीं माना जा सकता जैसे 'खड़ी बोली, बाँगडू ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिंदी के अंतर्गत मानी जाती है। (हि.सा.इ., सं. पृ. ४९) जहाँ तक व्याकरण के सहारे अपभ्रंश लिखने के प्रयत्न के आरोप की बात है उसके विषय में कदाचित् यह कहना पर्याप्त हो कि अब्दुल रहमान और विद्यापति दोनों

ही हेमचंद्र द्वारा परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न बताई गई 'ग्राम्य' अपभ्रंश में लिख रहे थे, जो शिष्ट अपभ्रंश की अपेक्षा जन-जीवन की बोली के निकट थी। और, जैसा कि 'संदेश-रासक' की भूमिका में कहा गया है, 'इसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश के व्याकरणिक नियमों का पालन भी उतनी कड़ाई से नहीं हो सकता था।' (संपा. हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी, प्रका. हिंदी ग्रंथ-रत्नाकर प्रा.लि., बंबई-४, सं. १९६५, पृ. १०१) कीर्तिलता' की भाषा के विषय में भी यही सच है। उसकी भाषा एवं कवित्व के विषय में द्विवेदी जी ने अपने दोनों इतिहास ग्रंथों में काफी विस्तार से लिखा है।

शुक्ल जी ने 'वीरगाथा' प्रकरण के अंत में सं. १४५४ में श्रीधर-रचित 'रणमल्ल छंद' नामक काव्य को जोड़कर एक और उलझन पैदा कर दी है। ठीक है, यह वीरकाव्य है, पर उनके द्वारा निर्धारित कालसीमा की दृष्टि से कालबाह्य है। इसकी यहाँ उपस्थिति का कोई कारण समझ में नहीं आता। वास्तविकता यह है कि यह भी अवहट्ट की रचना है, जिसे शुक्ल जी बताने से और शायद उतना ही मानने से भी चुक गये हैं। अवहट्ट की रचना होने से ही इसे ग्रहण किया जा सकता है और इसका उल्लेख भी 'कीर्तिलता' और कीर्तिपताका' के साथ किया जा सकता है। डॉ. सुमन राजे ने इसका विवरण रास और रासान्वयी काव्य ग्रंथ के आधार पर इसप्रकार दिया है: 'कवि श्रीधर कृत 'रण मल्ल छंद' भी रास-परंपरा में स्वीकृत किया गया है। इसमें वर्णित घटना सन् १३९८ ई. की है' डॉ. दशरथ शर्मा का कथन है- ऐसे अवसरों पर अपने मनोविनोद और शत्रुओं को चिढ़ाने के लिए धिरे सैनिक अनेक प्रेक्षणक और रास किया करते थे। विशेषकर सिपाहियों को जोश दिलाने वाली कृतियाँ ऐसे समय अभिनीत होती होंगी। श्रीधर की कृति शायद इसी १३९८ के घेरे के समय निर्मित हुई हो।' (हि.रा.का.प., पृ. १८८) डॉ. हीरालाल माहेश्वरी ने स्पष्ट लिखा है कि 'रणमल्ल छंद' मथा 'कीर्तिलता' की भाषा को अवहट्ट कहा गया है।' (रा.भा.सा., पृ. ७१) अपने इसी ग्रंथ में आगे चलकर वे किसी सीधर या श्रीधर कृत एक और वीरकाव्य का परिचय देते हुए संभावना व्यक्त करते हैं कि इसका और 'रणमल्ल छंद' का कवि

एक ही हो सकता है। परिचय इस प्रकार है:— श्रीधर या श्रीधर कृत 'सप्तसती रा छंद है, जो १२१ छंदों की रचना है। यह वीररसात्मक रचना है जिसमें देवी की स्तुति और उनके द्वारा महिषासुर, मधुकैटभ आदि दैत्यों के मारे जाने और विश्व में शांति स्थापित किये जाने का बहुत ही रसपूर्ण और हृदयग्राही वर्णन किया गया है। संवत् १६६७ में लिखित, संस्कृत आर्याओं के साथ इसकी हस्तलिखित प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर में है। इसकी भाषा, शैली और वर्णन-प्रवाह देखने से अनुमान होता है कि इसका कवि और 'रणमल्ल छंद' का कवि श्रीधर संभवतः एक ही व्यक्ति था। डॉ. मं.र.मजमुदार के विवेचन से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। 'रणमल्ल छंद' का रचनाकाल संवत् १४५५ के आसपास माना गया है। इस प्रकार कवि का रचनाकाल पंद्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। (पृ. १५१-१५२) दोनों कवि एक न भी हों तो श्रीधर कृत 'रणमल्ल छंद' की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। (दुखद यह है कि पूर्वोक्त इतिहास ग्रंथ हिंदी साहित्य, द्वितीय खंड में पृ. १६२ पर यदि श्रीधर का समय १४०० ई. = 1457 वी दिया हुआ है तो पृ. ५२६ पर वि.सं. १५४१ की जगह १४८४ ई. दिया हुआ है। एक ही पुस्तक में इस प्रकार की भ्रमोत्पादक भूलें पाठक का सिर चकरा देती हैं और पूरा विवरण अविश्वसनीय बन जाता है।) जो हो, यदि आदिकाल की अंतिम सीमा, द्विवेदीजी के अनुसार १४०० ई. अर्थात् १४५७ वि. मानकर चलें या इसे अवहटु की रचना स्वीकार करें तो इसे भी आदिकाल में ही स्थान मिल सकता है।

द्विवेदी जी ने 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में इस काल के संबंध में जो निर्णयात्मक बयान दिया है वह उन्हीं के शब्दों में संक्षेप में इस प्रकार है:

१. इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्ल जी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस-मात्र हैं और कई के संबंध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूलरूप क्या था। (पृ. १०-११) ध्यान दिला दें कि पहली दो बातें स्वयं शुक्ल जी की शब्दावली में ही उनका

प्रत्याख्यान है।

२. रचनाओं को जिनमें सूखा धर्मोपदेश लिखा गया है, साहित्यिक विवेचना के योग्य नहीं समझना उचित ही है।... जिस साहित्य में केवल धार्मिक उपदेश हों उससे वह साहित्य निश्चित रूप से भिन्न है जिसमें धर्म-भावना प्रेरक शक्ति के रूप में काम कर रही हो और साथ ही जो हमारी मनुष्यता को आंदोलित, मथित और प्रभावित कर रही हों।' (पृ. ११) यह बात जैन धर्मभावना से प्रेरित तथा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं के प्रसंग में कही गयी है और स्वीकरणीय है, परंतु आगे चलकर जब कवि द्विवेदी जी स्वयंभू चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल का नाम लेकर कहते हैं कि "इन जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र के बाहर नहीं चले जाते। धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का रामचरितमानस भी साहित्यक्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य-सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।" (वही) तो ठहरकर सोचना पड़ता है कि उक्त कवियों में से किसको, किसने, कहाँ साहित्यक्षेत्र से बाहर निकाला है, और यह भी कि क्या ये कवि शुद्ध अपभ्रंश के नहीं हैं। शुक्ल जी ने तो देवसेन तथा पुष्पदंत का और कुछ जैन रचनाओं का स्पष्ट (और सादर) नाम लिया है। उनकी आपत्ति केवल सिद्धों और योगियों की उन रचनाओं के प्रति है जो 'तांत्रिक विभाग, योग-साधना, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्त्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं।' (हि.सा.इति., संशोधित-परि, संस्करण, पृ. १७) फिर भी सिद्धों और योगियों का और उनकी रचनाओं का शुक्लजी ने दो कारण बताते हुए यथेष्ट विवेचन किया है। वे दो कारण हैं १. भाषा और २. सांप्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परंपरा, ताकि साहित्यिक विकास-क्रम की गति और पृष्ठभूमि का ज्ञान बना रहे। ऐसी स्थिति में धार्मिक साहित्य वाली बात को दूर तक घसीटना हमें उचित नहीं जान पड़ता और प्रचलित सेक्यूलर तथा कम्युनल के विवाद की-सी गंध देता है। वस्तुस्थिति

यह है कि शुक्लजी ने अपने इतिहास के प्रथम संस्करण के भूमिका स्वरूप 'वक्तव्य' में, जो संशोधित संस्करण २००२ में भी सम्मिलित है, मिश्र बंधुओं द्वारा आदिकाल के भीतर बताई गई जिन पुस्तकों की सूची दी गई है उनमें से शुक्ल जी ने 'वृद्ध नवकार', 'जंबूस्वामी रासा', 'नेमिनाथ चउपई' तथा 'उवएस-माला (उपदेशमाला)' को नाम लेकर, जैनधर्म के तत्त्व-निरूपण की पुस्तकें मानकर, उन्हें साहित्य-कोटि से बाहर रखा है। (पृ. ३-४, वही उद्धृत वक्तव्य)। 'विजयपाल रासो' के समान ही उनके संशोधित-परिवर्द्धित संस्करण में इनका कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं है। ऐसा लगता है कि द्विवेदी जी ने स्मरण के आधार पर जैन धर्म की बात उठा ली और उल्लिखित पुस्तकों को भुलाकर पुष्पदंत आदि का नाम जोड़ दिया, जबकि उन्हें आपत्ति थी तो सही नामों का उल्लेख करते हुए प्रतिवाद करना चाहिए था। इस प्रकार के कथनों से उत्पन्न तो उद्घाटित नहीं होता, अराजकता अवश्य फैलती है। ध्यान इस बात पर दिया जाना चाहिए था कि धर्मतत्त्व-निरूपक और धार्मिक साहित्य होना, दो भिन्न बातें हैं। गोस्वामी तुलसीदास या सूरदास ही नहीं मलिक मुहम्मद जासी को भी इस व्यर्थ विवाद में घसीटना व्यर्थ का वितण्डा खड़ा करना है। शुक्ल जी जीवन-संघर्ष के बीच से उभरते हुए मानवीय मूल्यों के निदर्शक जीवनी-शक्ति और जीवन-रस का संचार करने वाले भावनात्मक कोटि के साहित्य को साहित्य मानते थे, भले ही वह धर्माश्रित हो या किसी भी धर्मानुयायी का लिखा हुआ हो। कोरा तत्त्व-निरूपक साहित्य मात्र ज्ञानात्मक या सांप्रदायिक कोटि में परिगणनीय है। और सब जानते हैं कि तुलसी, सूर और जायसी का साहित्य पहली कोटि का है और शुक्ल जी को प्रिय है। अस्तु, द्विवेदीजी का तीसरा कथन है: ३. 'हम्मीर रासो' को नोटिस-मात्र समझा जा सकता है।... फिर यदि 'प्राकृत-पिंगलम्' के एक कवि के ग्रंथ को वीरगाथाकाल का ग्रंथ समझा जाय तो उसी ग्रंथ में से बब्बर, विद्याधर और अन्य अज्ञात कवियों की रचनाओं को भी उस काल की रचना मानकर विवेच्य क्यों न समझा जाय। प्राचीन गुर्जर-काव्यों में भी अनेक कवियों की रचनाएँ ऐसी हैं जिन्हें थोड़ा-बहुत हिंदी से संबद्ध समझकर इस काल के विषय में विचार किया जा

सकता है। (पृ. १५-१६)

हमारी दृष्टि में इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? यदि शुक्ल जी ने उनका विवेचन-विवरण नहीं दिया तो इसका कारण संभवतः यह रहा होगा कि उनकी दृष्टि शार्ङ्गधर और 'हम्मीर रासो' पर टिकी थी और उसका कारण था उनकी पूर्वप्रसिद्धि। द्विवेदी जी के शिष्ट डॉ. शंभुनाथ पांडेय ने अपने शोध प्रबंध 'आदिकालीन हिंदी साहित्य' (प्रका. विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी, प्र.सं. १९७०ई.) में 'प्राकृत पिंगलम्' का और उसमें बब्बर, विद्याधर, जज्जल, हरिब्रह्म तथा अज्ञात कवियों के छंदों का खासा ब्यौरा दे दिया है (पृ. १४५-१६५) जिससे जहाँ यह प्रमाणित होता है कि इन कवियों में से कुछ ने ईश-स्तवन, दशावतार संबंधी पद्य भी लिखे थे या इनकी कुछ रचनाएँ भी प्रसिद्ध हैं, वहाँ यह भी प्रमाणित होता है कि इनमें से अधिकांश ने राजस्तुति-परक तथा वीर रसात्मक छंद भी लिखे थे। ये दंद शुक्ल जी की कल्पना की ही पुष्ट करेंगे।

द्विवेदी जी इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि वीररसात्मक-काव्य इस काल का एक विशिष्ट स्वर है। वे यह भी मानते हैं कि 'वीर रस की प्रधानता होने के कारण चंद ने छप्पयछंदों का अधिक प्रयोग किया था।' (हिं.सा.उ.वि., पृ. ४६) और यह भी स्पष्टतः स्वीकारते हैं कि "नामकरण के समय शुक्ल जी के सामने ये (इधर अज्ञातपूर्व प्राप्त रचनाएँ) पुस्तकें नहीं थीं। परंतु यह सत्य है कि इस काल की रचनाओं में वीरत्व का एक नया स्वर सुनाई देता है। इस काल में वीर रस को सचमुच ही प्रमुख स्थान प्राप्त है।" (वही, पृ. ५६) किंतु वे पूरे काल में व्याप्त रचना-वैविध्य को ध्यान में रखकर सिद्धों, नाथों, जैन मुनियों की रचनाओं के साथ-साथ इधर प्राप्त फागु, चर्चरि तथा लोककाव्य 'छोला मारू रा दूहा' एवं 'चंदायन' आदि सबको समेकित रूप में मान्यता देते हुए इस काल के नामकरण के पक्ष में हैं। शुक्ल जी से उनकी दृष्टि-भिन्नता इस बात में भी है कि वे शुक्ल जी के समान आगे के काल को मध्यकाल कहकर उसे पूर्व और उत्तरकाल और फिर विशिष्टता के आधार पर उनको क्रमशः भक्तिकाल तथा रीतिकाल की संज्ञा नहीं देते, सीधे भक्ति साहित्य,

निर्गुण-भक्ति का साहित्य, कृष्ण भक्ति का साहित्य, सगुणमार्गी रामभक्ति का साहित्य, प्रेम कथानकों का साहित्य आदि शीर्षकों के अंतर्गत पूरे मध्यकालीन साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करते हुए आधुनिककाल और उसके विभागों का अलग-अलग शीर्षकों में इतिहास लिखते हैं। इतिहास का ढाँचा ही उनके यहाँ बदल जाता है और काल केवल आदि और आधुनिक रह जाते हैं। हम पहले कह चुके हैं कि शुक्ल जी देशीभाषा काव्य हिंदी की तत्कालीन रचना-प्रवृत्ति को रेखांकित करते हुए काल का नाम निर्धारित करते हैं और आगे भी पूरे इतिहास में इस ढाँचे को बनाए रखते हैं। द्विवेदी जी के यहाँ यह ढाँचा खण्ड-खण्ड हो जाता है। साथ ही वीरगाथात्मक काव्य और वीर रस को इस काल का प्रधान स्वर मान लेने पर वीरगाथा काल नाम से परहेज करने का कोई सबल कारण नहीं रह जाता।

‘आदिकाल’ नाम के विषय में भी वे थोड़ा उलझन में हैं और यद्यपि उनका बहुत कुछ झुकाव महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा दिए गए नाम ‘सिद्ध-सामंत काल’ के पक्ष में है, तथापि वे अंततः आदिकाल नाम ही स्वीकार

करते हैं। उनकी उलझन यह है कि इस नाम से एक भ्रामक धारणा की सृष्टि होती है कि यह काल आदिम भावापन्न, परंपरा-विनिर्मुक्त, काव्यरूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यदि पाठक इस ओर से सावधान रह सके तो उनकी दृष्टि में यह नाम बुरा नहीं है। (वही, पृ. ५६) हमारी समझ से ‘आदिकालीन हिंदी साहित्य’ नाम की अपेक्षा ‘हिंदी साहित्य का आदिकाल’ कहना कहीं कम भ्रामक है और इतना तो प्रबुद्ध पाठकों से आशा ही की जा सकती है कि वे अभीष्ट अर्थ अर्थ को ही ग्रहण करें। यों इस संकट से बचने के लिए कुछ लेखकों ने प्रादुर्भवकाल, उत्पत्तिकाल और प्रारंभिककाल जैसे नाम भी सुझाए या दिए हैं। डॉ. राजकिशोर पाण्डेय की इस काल पर पूरा पुस्तक ही है: ‘हिंदी साहित्य का प्रारंभिक युग’ (प्रका. नवहिंदी प्रकाशन, ८३१, बेगम बाजार, हैदराबाद-१२) दूसरी ओर पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी जैसे विद्वान भी हैं जो अपनी आधुनिक साहित्य से संबंधित पुस्तक का नाम भी बेधड़क आधुनिक हिंदी का आदिकाल रख लेते हैं।

संपर्क :

‘कपाली’, 162/5बी.-1सी, डी.पी.रोड, औंध, पुणे-
411067 (महाराष्ट्र), फोन- 020 2588 4933

आदि कालीन साहित्य की संवेदनाओं की आधुनिक प्रासंगिकता

डॉ. अतुला भास्कर

इतिहास का अध्ययन केवल ज्ञान अर्जन तथा श्रेष्ठ मनुष्य व उत्कृष्ट समाज की स्थापना के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है, अपितु इसके द्वारा हमें सामाजिक समस्याओं से जूझने के लिए कई सूत्र भी प्राप्त होते हैं, जिनसे आज हम दो चार हो रहे हैं। प्रायः यह विचार मान्य है कि इतिहास का अध्ययन जटिल, पेचीदा और विवादास्पद है— अतीत को खंगालने से क्या लाभ मिलेगा? इसमें कोई संदेह नहीं कि इतिहास का अध्ययन हमें सामाजिक समस्याओं के निराकरण की युक्ति प्रदान करता है। अतीत को जानने की जिज्ञासा भी इतिहास अध्ययन का महत्वपूर्ण कारण है। मनुष्य स्वभावतः अपने अतीत की उन घटनाओं को जानने की इच्छा रखता है जिसके कारण उसका वर्तमान और उसकी परिस्थितियाँ प्रभावित हैं, क्योंकि इतिहास के अध्ययन से उसे अपनी गलतियों से सीखने और उन्हें सुधारने के उपाय भी मिलते हैं। उदाहरणतः न्यूक्लियर शक्ति प्रयोग और उसके परिणामों में सभी देशों को न्यूक्लियर शस्त्रों को नष्ट करने के लिए प्रेरित किया। इतिहास का अध्ययन किसी हद तक सामाजिक समस्याओं से भिन्न हैं। टैक्नोलॉजी के विस्तार के कारण आज की सामाजिक समस्याएँ भी अत्याधुनिक हैं। वर्तमान काल में सामाजिक समस्याएँ कहीं ज्यादा जटिल हैं, अतीत के सूत्र उन्हें हल करने में थोड़ी-बहुत मदद ही कर सकते हैं। इतिहास का ज्ञान हमें अतीत के परिवर्तनों से आज के परिवर्तनों को और बेहतर बनाने की प्रेरणा देता है। अतीत के बहुत से अविष्कारों ने हमारे आज को सुविधाजनक बनाया है। वर्तमान काल का सम्प्रेषण नेटवर्क पहले से कहीं ऊँचे दर्जे का है जिसकी कभी कल्पना भी नहीं की गई थी। राईट ब्रदर्स के हवाई जहाज की खोज से पहले कोई सोच भी नहीं सकता था कि हजारों मील की दूरी को घंटों में तय किया जा सकता है। निःसंदेह अतीत की ऐसी खोजों ने वर्तमान को और हमारी जीवन शैली को बेहतर बनाया है। आज 'इतिहास' शब्द को व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है जिसके अंतर्गत अतीत की प्रत्येक परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं विचारधारा का समावेश हो जाता है। अतः अतीत के किसी भी तथ्य एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को— जो कि काल विशेष कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो 'इतिहास' कहलाता है।

प्रायः इतिहास शब्द से राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है, जबकि वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से संबंध नहीं हो। अतः साहित्य इतिहास से अलग नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया-कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। साहित्यिक रचनाएं मानवीय क्रिया कलापों से भिन्न नहीं हैं वे विशेष वर्ग के

मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक हैं जो कि साहित्यकारों की सर्जनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों को दर्शाती हैं।

किसी भी साहित्य को समझने के लिए पहले उस साहित्य की परम्परा को समझना आवश्यक है। कोई भी चिंतनधारा एकाएक उदय नहीं होती। उसके उदय होने के कारण सामयिक समाज-व्यवस्था में ही छिपे रहते हैं। सामाजिक विषमताएं नए विचारों को जन्म देती हैं और नए विचार साहित्य में अभिव्यक्त होने लगते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने वीरगाथा-काल का समय ९९३ई. से १३१८ई. तक माना था। वह इस कालावधि में वीरगाथाओं की रचना प्रवृत्ति को प्रधान मानकर चले थे। लेकिन जिन आधारों पर नौवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक के समय को आदिकाल माना है, उनसे वीरगाथा की प्रवृत्ति की प्रधानता अस्वीकृत हो जाती है। अतः आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत 'वीरगाथा काल' नाम उचित नहीं रह जाता है। उनके द्वारा दिये गये इस नाम पर पहले भी कई विद्वानों ने आपत्ति की है। जहाँ तक अन्य विद्वानों द्वारा दिये गये नामकरण की बात की जाये वे कुछ इस प्रकार हैं- ग्रियर्सन 'चारण काल', मिश्र बंधु 'प्रारम्भिक काल', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'आदिकाल', डॉ. रसाल 'आदिकाल', डॉ. रामकुमार वर्मा 'संधिकाल' एवं 'चारण काल', राहुल सांकृत्यायन 'सिद्ध-सामंत काल', विश्वनाथ प्रसाद मिश्र 'वीरकाल' आदि। वास्तव में 'आदिकाल' ही ऐसा नाम है जिसे किसी न किसी रूप में प्रायः सभी साहित्यकारों ने स्वीकारा है और जिससे हिंदी साहित्य के इतिहास की भाषा, भाव, विचारधारा, शिल्प आदि से संबंधित सभी मतभेद सुलझ जाते हैं। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है जिस पर आगे का साहित्य अवस्थित है। इस काल के साहित्य में हम हिंदी भाषा के आदि रूप का बोध पा सकते हैं, जबकि भाव की दृष्टि से भक्तिकाल से आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का बीजारोपण भी इसी काल में दृष्टिगत होता है। आगामी कालों में प्रयुक्त काव्य रचना शैलियों के आदिरूप भी यहाँ मिल जाते हैं। इस काल की आध्यात्मिक शृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है।

आदिकालीन हिंदी साहित्य उपलब्ध सामग्री को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- प्रथम जिनकी भाषा तो हिंदी है पर वे अपभ्रंश के प्रभाव से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं: सिद्ध साहित्य, श्रावकाचार, नाथ साहित्य, राहुलवेल (गद्य-पद्य), उक्ति व्यक्ति प्रकरण (गद्य) भरतेश्वर बाहुबलीरास, हम्मीररासो, वर्णरत्नाकर। अपभ्रंश से नवप्रसूता भाषा का साहित्य लौकिक रूप में अधिक निसृत हुआ। शिष्ट साहित्य तो उसके बहुत बाद साहित्य इतिहासों में आता है। इस दृष्टि से 'फागु', 'घर्चरी' आदि के उद्धरण 'कुवलयमाला' और जिन दत्त सूरी के 'नीति काव्य' में मिलते हैं। इसी प्रकार अब्दुलहमान का 'संदेश रासक' इस काल की ऐसी रचना है जो लिपियान्तरण के कारण प्रायः सभी साहित्येतिहासकारों की दृष्टि से छूटी रही। एक अन्य रचना कवि असाइत की 'हंसाउली' का नाम भी आता है जो प्रारंभ में गुजराती मानी गई और बहुत बाद में शोधार्थियों ने इसे हिंदी का पहला प्रेमाख्यान माना।

भक्ति आंदोलन का उद्भव और विकास भी कालखंड में हुआ क्योंकि बौद्ध धर्म, नाथ सम्प्रदाय और शास्त्रीयता के साथ-साथ बाह्य आक्रमणकारियों के समन्वय के कारण इस युग में एक नयापन दिखायी देता है। जिसमें प्राचीन भागवतधर्म, दक्षिण का भक्ति आंदोलन, सिद्धों और नाथों की परंपरा के साथ-साथ सूफी दर्शन और साहित्य का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता है। लोकवार्ता और लोकगीतों ने भी इस काल की विचारधारा को बहुत गहरे से प्रभावित किया है। भक्ति आंदोलन में नव जागरण के अग्रदूत शंकराचार्य का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शंकराचार्य की विचारधारा आदिकालीन साहित्यिक बोध की एक ऐसी प्रभावान्वित है जिसका परवर्तीकाल पर बड़ा गहरा प्रभाव दिखाई देता है और यह प्रभाव आद्यान्त प्रभावी है इसमें कोई संदेह नहीं है। नाथ मुनि रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क, विष्णु स्वामी, ज्ञानेश्वर, नामदेव और रामानंद ऐसे पुरोधा हैं जिनकी विचारधारा आज के युग में भी उतनी ही प्रभावी है। इसके साथ इस्लामी प्रभाव के कारण सूफी प्रभाव विशेषकर बाबा फरीद, हजरत निजामुद्दीन औलिया, निजामुद्दीन चिश्ती, बंदानवाज गेसुदराज तथा अमीर खुसरो आदि ऐसे नाम हैं जिन्होंने अपने समय में जो कुछ

कुछ कहा वह समयातित होकर आज भी प्रभावी है। चक्रधर, ज्ञानेश्वर और नामदेव ये तीन ऐसे नाम हैं जिन्होंने यात्राओं के माध्यम से भारत भ्रमण किया और सामयिक युग व्यवस्था में जो कुछ मानवीय प्रभाव को प्राप्त किया उसे युग बोध के साथ जोड़ते हुए प्रस्तुत किया।

इसी कालखंड में जैन साहित्य के साथ-साथ निर्गुण व सगुण भक्ति साहित्य का सूत्रपात भी होता है। जो आगे चलकर भक्तिकाल से होता हुआ आज तक निरंतर प्रासंगिक बना हुआ है। द्वितीय वे रचनाएं हैं जो अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त हिंदी की रचनाएं हैं— 'खुमाण रासो', 'ढोला-मारु-रा-दूहा', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो', 'जयचंद-प्रकाश', 'जय-मयंक जस चंद्रिका', 'चंदन बाल रास', 'स्थूल भद्र रास', 'रेवन्त गिरि रास', 'नेमि नाथ रास', 'वसंत विलास', 'खुसरो की पहेलियाँ'। उपयुक्त रचनाओं में से 'हम्मीर रासो', 'खुमाण रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो', की प्रामाणिकता संदिग्ध रही है। रासो ग्रंथों के वर्तमान रूप पर अप्रामाणिकता के आरोप प्रायः लगते रहे हैं। लेकिन यह भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि रास ग्रंथ उत्तरकालीन रचनाएं हैं और अप्रामाणिक हैं। निश्चय ही इन सबकी रचना आदिकाल में हुई थी। शनैः शनैः इनके आकार एवं रूप में परिवर्तन होता रहा। किन्तु इस परिवर्तन के कारण आदिकाल में इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आदिकाल साहित्य में वैविध्य भरपूर है— विषयों का, काव्य रूपों, काव्य भाषा के आधार रूपों का। विचारों, बोलियों और बानियों से प्रारंभ होकर समरसता की प्रक्रिया उत्तरोत्तर सूक्ष्म स्तरों का स्पर्श करती गई।

उपलब्ध सामग्री के आधार पर आदिकालीन साहित्य को इन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है— सिद्ध साहित्य, जैन साहित्य, नाथ साहित्य, रासो साहित्य, लौकिक साहित्य, गद्य रचनाएं। सिद्ध साहित्य के अन्तर्गत चौरासी सिद्धों की साहित्यिक रचनाएं तत्कालीन लोक भाषा हिंदी में लिखी गई। सरहपा, लुइपा, विरुपा, कणहपा, कुक्कुरिया, ताँतिया आदि सिद्धों की कई रचनाएं इस श्रेणी में आती हैं। सिद्धों ने बौद्ध-धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के

लिए जो साहित्य जन-भाषा में लिखा, वह हिंदी के सिद्ध साहित्य की सीमा में आता है। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार हिंदी परंपरा के पहले कवि भोग में निर्वाण और काया में तीर्थ देखते हैं। उन्होंने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से इस साहित्य का आरंभ होता है। सिद्ध कवियों ने हिंदी साहित्य में कविता की जो प्रवृत्तियाँ प्रारंभ की, उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा। रुढ़ियों के विरोध का अक्खड़पन एवं योग साधना जो कबीर आदि संत कवियों में मिलता है, इन सिद्ध कवियों की देन है। सिद्ध कवियों ने सामाजिक जीवन की जो झांकी प्रस्तुत की, वही भक्तिकालीन काव्य की सामाजिक चेतना का आधार बनी। यहाँ तक कि कृष्ण भक्ति के मूल में निहित प्रवृत्ति मार्ग के प्रेरणासूत्र भी इनके साहित्य में मिलते हैं। पूर्वी क्षेत्र में सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान मत का प्रचार हिंदी कविता के माध्यम से किया। वहीं पश्चिमी क्षेत्र में जैन साधुओं ने भी अपने मत का प्रचार हिंदी कविता के माध्यम से किया। इनकी रचनाएँ आचार, राम, फागु, चरित आदि विभिन्न शैलियों में मिलती हैं। जैन काव्यों की आचार शैली में घटनाओं की अपेक्षा उपदेशात्मकता को महत्ता दी गई है। फागु और चरित—काव्य शैली की सामान्यता के लिए प्रसिद्ध है। जैन साधुओं ने 'रास' को एक प्रभावशाली रचना शैली का रूप दिया। जैन तीर्थंकरों के जीवन—चरित तथा वैष्णव अवतारों की कथाएँ जैन आदर्शों के आवरण में 'रास' नाम से पद्यबद्ध की गई। चौदहवीं शताब्दी तक श्रावकों द्वारा जैन मंदिरों में 'रास' गायन की पद्धति का प्रचार रहा। वीरगाथाओं में 'रास' को ही 'रासो' कहा गया लेकिन उनकी विषय—रचना जैन 'रास' ग्रंथों से अलग थी। नाथ परंपरा राजाओं को योगी बनाती है क्योंकि 'तांबा तूबा ये दोइ सूचा/ राजा ही तैं जोगी ऊँचा।। तांबा डूबै तूबा तिरै/ जीवै जोगी राजा मरै।।' (चरपट नाथ की सबदी)। राहुल सांकृत्यायन नाथ पंथ को सिद्धों की परंपरा का ही विकसित रूप मानते हैं। इस पंथ के प्रवर्तक मत्स्येन्द्र नाथ (मछंदरनाथ) तथा गोरखनाथ माने गए हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा का मत है कि नाथ पंथ से ही भक्तिकाल के संत मत का विकास हुआ। वह नाथ पंथ के चरमोत्कर्ष का समय बारहवीं से चौदहवीं

शताब्दी के अंत तक स्वीकार करते हैं। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से नाथ पंथ की रचनाओं की अनेक विशेषताएँ संत काव्य में विद्यमान हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, “नाथ-पंथ या नाथ सम्प्रदाय के सिद्ध-मत, सिद्ध मार्ग, योग-मार्ग, योग-संप्रदाय, अवधूत-मत एवं अवधूत-संप्रदाय नाम भी प्रसिद्ध है।” इस कथन का अर्थ यह नहीं कि सिद्ध-मत और नाथ-मत एक ही हैं। द्विवेदी जी ने नाम ख्याति की ओर ध्यानाकर्षण किया है कि दोनों मार्गों को एक ही नाम से पुकारा जाता था। वस्तुतः सिद्ध मत एवं नाथ मत के मूल में ही अंतर छिपा हुआ है। सिद्ध पंचमकार में विश्वास करते थे, किंतु नाथ पंथी उसके विरोधी थे। नाथ साहित्य के विकास में गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीचंद, चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्ध्री आदि का योगदान रहा। इनकी रचनाओं में खण्डन-मंडन तथा उपदेशात्मकता का प्राधान्य रहा। इनकी हठयोग साधना में ईश्वरवाद व्याप्त था जिसका अनुकरण भक्तिकालीन संत कवियों ने किया। रासो काव्य के रचनाकार जिस राजा के चरित्र का वर्णन करते थे, उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी सम्मिलित करा देते थे। यही कारण है कि इन ग्रंथों में मध्यकालीन राजाओं का भी वर्णन मिलता है तथा उत्तरवर्ती भाषा-रूपों की झलक पाई जाती है। प्रायः रासो ग्रंथों के रचनाकाल और उसकी प्रामाणिकता के संबंध में शंकाएँ उठती रहती हैं। रासो एक विकसनशील काव्य है। कोई कवि जब किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक नायक का चरित लघु या वृहत् काव्य रूप में लिखता है तो कालान्तर में उस लोकप्रिय नायक के जीवन चरित की भिन्न-भिन्न घटनाएँ भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न रूपों में विकसित होती हैं। कवि का काव्य सामूहिक संपत्ति बन जाता है क्योंकि लिखित साहित्य स्थिर हो जाता है और मौखिक साहित्य में सदैव नया जुड़ने की गुंजाइश रहती है। प्रत्येक नया गाने वाला किसी नयी गाथा का नया संस्करण कर डल्लता है। इन काव्यों की विषय वस्तु का संबंध मूलतः राजाओं के चरित और प्रशंसा से है। ‘खुमाण रासो’ के रचयिता दलपति विजय हैं और इसका रचनाकाल नवीं शताब्दी के लगभग माना जाता है। यह पांच हजार छंदों का एक विशाल संग्रह है। इसमें युद्ध, विवाह, नायिका-

भेद, षट्क्रतु आदि के विस्तृत विवरण दिए गए हैं। ‘हम्मीर रासो’ के कुछ काव्य छंद ‘प्राकृत पैंगलम्’ में मिले थे। उन्हीं के आधार पर आचार्य शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की थी। ‘परमाल रासो’ का विकसित ‘आल्हाखण्ड’ है, जो उत्तर प्रदेश में आज भी गाया जाता है। ‘बीसलदेव रासो’ की रचना नरपति नाल्ह कवि ने बारहवीं शती में की, मूलतः यह एक गेय काव्य है। इस काव्य के वर्णनों में एक संस्कार दृष्टि मिलती है, जो नारी गरिमा की स्थापना करती है। यह आदिकालीन साहित्य की श्रेष्ठ काव्य कृति है। चन्दर बरदायी कृत ‘पृथ्वीराज रासो’ काव्य-वैभव, छंद विधान, अलंकरण आदि की दृष्टि से अपने युग की अनन्य कृति है। इस ग्रंथ के संबंध में एक लम्बा विवाद चलता आ रहा है कि यह प्रामाणिक है, अप्रामाणिक है अथवा अर्द्धप्रामाणिक है। इतिहास विरोधी कथनों के आधार पर ‘पृथ्वीराज रासो’ को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। चन्द ने पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का जैसा सजीव वर्णन किया है उसे देखकर कवि के पृथ्वीराज के समकालीन होने में जरा सा भी संदेह नहीं रह जाता है। रासो को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। विवाद का कारण इसमें प्रक्षिप्त अंशों का समावेश है। यह काव्य पिंगल शैली में लिखा गया है तथा इसमें ब्रजभाषा के रूप में राजस्थानी बोलियों का मिश्रण है। वीर रस के चित्रणों में प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों का चयन किया गया है। चंद ने सहज रूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। अड़सठ प्रकार के छंदों में लिखा गया यह महाकाव्य आदिकाल की एक श्रेष्ठ कृति है।

आदिकालीन साहित्य में स्वच्छंद रूप से लौकिक विषयों पर ग्रंथ लिखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। ‘ढोला-मारु-रा-दूहा’ एक लोकभाषा काव्य है। राजस्थान में यह काव्य अत्यंत लोकप्रिय रहा है। आदिकालीन साहित्य में यह लोक प्रसिद्ध प्रेम-गाथा शृंगार काव्य परंपरा की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। जयचंद-प्रकाश और जय मयंक, जय चंद्रिका का उल्लेख तो मिलता है, पर अभी तक ये उपलब्ध नहीं हुई हैं। ‘वसंत विलास’ रचना के रचयिता का पता नहीं चल सका है। इसमें चौरासी दोहों में वसंत और स्त्रियों पर उसके विलास पूर्ण प्रभाव का मनोहारी चित्रण किया गया

है। यह एक सरस साहित्यिक कृति है। इस काव्य की भाषा पिंगल है। जो सरस ब्रजभाषा के रूप के साथ आलंकारिकता से पूर्ण है जिसका रीतिकाल तक पूर्ण विकास हुआ। 'खुसरो की पहेलियाँ' काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये जीवन के गंभीर, धार्मिक, राजनीतिक पक्षों के स्थान पर हल्के-फुल्के पक्ष का चित्रण करता है। खुसरो का साहित्य चमत्कार पूर्ण जन-मन-रंजनकारी रहा है। यह साहित्य जन साधारण की भाषा को अपना कर एक अमित अद्भुत आकर्षण उत्पन्न कर देता है। पाठक इनमें जीवन का आनंद और विनोदात्मक वातावरण पाते हैं। यह ऐसा साहित्य है जो जनता की जुबान पर चढ़कर युग-युगांतर तक जीवित रहता है। यही कारण है कि खुसरो की पहेलियाँ आज जो प्रचलित हैं उनकी भाषा प्राचीन न रहकर आधुनिक बन गई है। इस युग में एक ही रचना ऐसी है जो मैथिली-भाषा में है, जिसे विद्वान आरंभ से ही हिंदी की रचना मानते आए हैं- विद्यापति की पदावली। विद्यापति के पद इतने अधिक लोकप्रिय हुए कि हमें परवर्ती हिंदी साहित्य में पद परंपरा के रूप में एक श्रेष्ठ साहित्य के दर्शन होते हैं। उनके परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों ने इस परंपरा को अपना कर राधा-कृष्ण के प्रति अपने भक्ति भावमय उद्गारों को प्रकट किया। इसी कारण विद्यापति को हिंदी साहित्य में ही नहीं, अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी पद-परंपरा का प्रतिस्थापक माना जाता है। ये गीत स्वर-संगीत एवं शब्द-संगीत के वैभव से परिपूर्ण हैं। कलात्मकता के साथ-साथ इनमें लोक-गीतों की सरलता, स्वाभाविकता, स्वच्छंदता एवं शृंगारिकता विद्यमान है।

आदिकाल में काव्य-रचना के साथ-साथ गद्य रचना की दिशा में कुछ प्रयास दिखाई देते हैं। 'राउलवेल', 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' और 'वर्ण-रत्नाकर' उल्लिखित रचनाएं हैं। आदिकाल में विभिन्न जनपदों में जो साहित्य रचा गया, संचार साधनों की अविकसित परिस्थितियों के कारण उसका परस्पर संपर्क कम रहा होगा ऐसा अपेक्षणीय है। इसीलिए वहाँ उस तरह की एकात्मकता नहीं दिखती जैसी परवर्ती भक्ति और रीतिकालीन साहित्य में दिखाई

देती है। नाथों की बानियाँ पूरे उत्तर भारत में फैल गई जिसका उत्तराधिकार संत कवियों में मिलता है। सिद्धों, नाथों, जैन कवियों, रासउ- रचनाकारों, अमीर खुसरो और विद्यापति के कृतित्व में आदिकाल हिंदी क्षेत्र के रचनात्मक वैविध्य की यथार्थ प्रस्तावना प्रस्तुत करता है। इस साहित्य में भाषिक संवेदनात्मक वैविध्य को समरसता मिलती है। आदिकाल का हिंदी साहित्य अपभ्रंश साहित्य के समानान्तर विकसित हुआ। इस साहित्य में जीवन के विविध पक्षों का चित्रण हुआ। इस युग में हिंदी भाषा जन-जीवन के रस को लेकर अग्रसर हुई है। अनेक बोलियों को एकरूपता के सूत्र में पिरोया गया। इस साहित्य में परवर्ती कालों के लिए अनेक परंपराओं की नींव डाली गई।

आदिकाल की हिंदी आज के युग की मात्र खड़ी बोली हिंदी न होकर वो समन्वित लोकभाषा है जो आज हिंदी की उप-बोलियों के रूप में अवधी, ब्रज, मैथिली, छत्तीसगढ़ी, राजस्थानी, आदि रूपों में बंटी हुई है। आदिकाल की प्रासंगिकता आज सामूहिक हिंदी के रूप में है ना कि मात्र खड़ी बोली के रूप में।

सहायक ग्रंथ:

1. प्रभाकर माचवे, आधुनिक हिंदी भाषा और साहित्य, लखनऊ: लखनऊ पब्लिशिंग हाऊस, 1971।
2. रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 2009।
3. रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, इलाहाबाद: लोकभारती प्रकाशन, 1998।
4. राहुल सांकृत्यायन, हिंदी काव्यधारा, इलाहाबाद: किताब महल, 1945।
5. संपा. डॉ. नगेन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 1971।
6. सुमन राजे, साहित्येतिहास आदिकाल, कानपुर: ग्रंथम् 1976।
7. श्री नारायण चतुर्वेदी, आधुनिक हिंदी का आदिकाल, इलाहाबाद: हिंदुस्तान एकेडमी, 1973।
8. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का आदिकाल, पटना: बिहार राष्ट्र भाषा परिषद, 1957।

संपर्क : शहजानंद कॉलेज, ग्रीन एवेन्यू, अमृतसर, पिन- 143001

गांधीयुगीन हिंदी दैनिकों के जातीय दायव डॉ. विनोद कुमार सिंह

हिंदी पत्रकारिता ही नहीं वरन् समस्त भारतीय पत्रकारिता की विकास यात्रा में सन् १९२० से १९४७ई. तक का कालखंड गांधी युग के नाम से जाना जाता है। यह कालखंड गाँधी जी के बहुआयामी व्यक्तित्व से आच्छादित था। सन् १९२० में हमारे राष्ट्रीय जीवन में गांधी के रूप में एक ऐसे ज्योतिपुरुष का अवतरण होता है जिसके विराट व्यक्तित्व और अटल आत्मशक्ति में गहन गरिमा एवं अपार उदात्तता थी। उस भव्य और तेजस्वी महामानव ने हमारे राष्ट्रीय जीवन को गहराई से प्रभावित किया। इस प्रभाव को नेहरू जी इस प्रकार रेखांकित किया है— “गांधी जी अपने युग के एक ऐसे नेता थे जिनका देश की समग्र चेतना पर प्रभाव था। राजनीति के साथ ही शिक्षा और साहित्य पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा।”

तत्पुगीन परिस्थितियों और भारत के राजनीतिक क्षितिज पर गांधी जी के उदय के संदर्भ में डॉ. पद्माकर पाण्डेय ने लिखा है— “भारतीय राष्ट्र के महान प्रतिनिधियों के सतत् विरोध के बावजूद अंग्रेज सरकार ने फरवरी १९१९ ई. में रोलेट एक्ट पास किया जिसकी समस्त राष्ट्र में व्यापक एवं तीव्र प्रतिक्रिया हुई। इस एक्ट के द्वारा अंग्रेज सरकार ने राष्ट्रीय चेतना को कुचलने और दमन करने के लिए व्यापक अधिकार प्राप्त कर लिये थे। फलस्वरूप इसके विरोध में समूचे राष्ट्र में एक तीव्र उत्तेजना व्याप्त हो गई। १३ अप्रैल, सन् १९१९ को जालियां वाला बाग में इस एक्ट का विरोध करने के लिए एक सभा का आयोजन हुआ था। इस सभा में उपस्थित लोगों को गोलियों से भूनकर भारत सरकार ने पंजाब में मार्शल ला लागू कर दिया। इसकी प्रतिक्रिया एवं विरोध में एक व्यापक विक्षोभ समस्त देश में व्याप्त हो गया। परिणामस्वरूप कांग्रेस ने दिसम्बर १९१९ का अधिवेशन अमृतसर में करने का निश्चय किया। यद्यपि अमृतसर में इस समय अधिवेशन करना अत्यंत कठिन कार्य था तदपि स्वामी श्रद्धानंद ने इस दायित्व को स्वयं उठा लिया। महामना मदन मोहन मालवीय जी के आमंत्रण पर वे पंजाब पहुँचे और उन्होंने साहसपूर्ण रूप से अधिवेशन का आयोजन किया। इस अधिवेशन में लोकमान्य तिलक, देशबंधु चितरंजन दास और महात्मा गांधी ने अंग्रेजी सरकार द्वारा घोषित किये गये मांटैगू चेम्सफोर्ड के शासन सुधारों के प्रति संपूर्ण असंतोष व्यक्त करते हुए उन्हें अपर्याप्त बताते हुए संघर्ष करने की घोषणा की। फलस्वरूप सन् १९२० में प्रवेश करते ही समूचे देश का वातावरण गरम हो गया। इस समय महात्मा गांधी भारत के सर्वाधिक प्रभावशाली नेता के रूप में उभरकर सामने आये एवं उन्होंने असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया।”

गांधीयुगीन हिंदी पत्रकारिता : गांधी जी अपने युग के महानायक, राष्ट्र पुरुष और मानवता के अप्रतिम उन्नायक ही नहीं वरन जनसेवा को पत्रकारिता का महादुद्देश्य मानने वाले एक श्रेष्ठ पत्रकार भी थे। गांधी जी ने 'इंडियन ओपीनियन', 'नवजीवन', 'हिंदी नवजीवन', 'यंग इंडिया', 'तरुण भारत', 'हरिजन', 'हरिजन सेवक', 'हरिजन बंधु' आदि पत्रों को प्रकाशित किया। इन्हीं पत्रों के पृष्ठों से निःसृत विचार सन् १९२० से १९४७ ई. तक हिंदी पत्रकारिता को गहराई तक प्रभावित किया। इस संदर्भ में एस. नटराजन का विचार द्रष्टव्य है: 'गांधी जी स्वयं पत्रकार थे और पत्रकारिता को वे वैचारिक क्रांति का एक सशक्त माध्यम मानते थे। उनके हाथ में अपने पत्र थे। विभिन्न भाषाओं में अनेक पत्र प्रकाशित हो रहे थे। जिन पर गांधी-विचार का असर था और जो सत्याग्रह-आंदोलन के प्रति प्रतिश्रुत थे।'

गांधी जी द्वारा प्रकाशित पत्रों को समाचार पत्र के बजाय विचार पत्र कहना अधिक समीचीन होगा। 'यंग इंडिया', 'नवजीवन', 'हरिजन', 'हरिजन सेवक', 'हरिजन बंधु' आदि पत्रों में गांधी जी के बहुविषयी और बहुआयामी विचार प्रकाशित होते थे। गांधी जी द्वारा प्रकाशित इन्हीं विचार पत्रों के पृष्ठों से निःसृत विचार तत्पुगीन समाचार पत्रों के प्रतिपाद्य बने।

गांधी युग में तीन बड़े आंदोलन हुए- असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन। तीन बड़े तथा कतिपय छोटे आंदोलनों से ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध गांधी जी के नेतृत्व में भारतीय जनता की संघर्षशीलता को भारतीय इतिहास में राष्ट्रीय आंदोलन के नाम से जाना जाता है। ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध उत्पन्न राष्ट्रीय चेतना को प्रचारित करना तत्पुगीन हिंदी पत्रकारिता का युगधर्म बन गया।

गांधीयुगीन राष्ट्रीय चेतना के प्रचारक पत्रों में कर्मवीर (१९२०), हिंदी नवजीवन (१९२१), स्वदेश (१९१९), राजस्थान केशरी एवं नवजीवन राजस्थान (१९२२), देश (१९२०), मतवाला (१९२३), सेनापति (१९२६), हिंदू पंच (१९२६), श्रीकृष्ण संदेश (१९२५), जागरण (१९३२), संदेश (१९३४), सैनिक

(१९२५), सारथी (१९४२), प्रभात (१९३३), प्रजासेवक (१९४०), काल की दुनिया (१९४०), नवज्योति (१९३६) आदि प्रमुख साप्ताहिक, चांद (१९२२), माधुरी (१९२२), सुधा (१९२७) त्यागभूमि (१९२७), विशाल भारत (१९२८), युवक (१९२९), वीणा (१९२४), गंगा (१९३०), मधुकर (१९३०), हंस (१९३०) आदि पाक्षिक-मासिक तथा विश्वामित्र (१९१६), आज (१९२०), दैनिक प्रताप (१९२०), दैनिक वर्तमान (१९२०), लोकमत (१९२०), स्वतंत्र (१९२०), भविष्य (१९२०), स्वराज्य (१९२०), भावनामा (१९२०), आदर्श (१९२१), तिलक (१९२१), वैभव (१९२२), वीर अर्जुन (१९२३), ब्रह्मर्षि (१९२३), प्रकाश (१९२३), प्रेत (१९२४), प्रणववीर (१९२४), महारथी (१९२५), हिंदू संसार (१९२५), जैन गजट (१९२५), नवयुग (१९३४), हिंदुस्तान (१९३६), आर्यावर्त (१९४१) आदि दैनिक पत्र उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त पत्रों के पृष्ठों से गांधीयुगीन चेतना का मूलस्वर मुखरित हुआ। इस कालखण्ड के पत्रों एवं पत्रकारों ने खुलकर राष्ट्रीय आंदोलन का समर्थन किया और ब्रिटिश सत्ता के अन्याय एवं अत्याचार को झेलते हुए युग प्रवर्तक गांधी जी के संदेशों के जन-जन तक प्रचारित करके भारजीय जनमानस में स्वतंत्रता की प्रबल आकांक्षा को जाग्रत किया।

गांधीयुगीन दैनिक पत्र: गांधी युग (सन् १९२०-१९४७ई.) में असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन ने भारतीय जनमानस को आलोकित कर दिया। इन आंदोलनों से संपूर्ण राष्ट्र में उद्दाम राष्ट्रीयता की भावना उद्दीप्त हो गयी। राष्ट्रीयता के प्रबल आवेग से राष्ट्रीय जीवन उद्वेलित हो गया। राष्ट्रीयता से अभिप्रेरित स्वातंत्र्य चेतना अभिव्यक्ति का नया मार्ग तलाशने लगी और लोक हृदय में उद्दीप्त राष्ट्र प्रेम मुखरित होने के लिए छटपटाने लगी। असहयोग आंदोलन का उद्घोष होते ही हिंदी में दैनिक पत्रों की बाढ़ आ गयी। वे दैनिक पत्र ही गांधीयुगीन चेतना की अभिव्यक्ति के नये माध्यम बने। अभिव्यक्ति के इस अभिनव पथ पर राष्ट्रीय आंदोलन का रथ तीव्रगति से अपनी मंजिल की

ओर बढ़ने लगा।

गांधीयुगीन चेतना के अभिव्यक्तिकरण का नूतन पथ प्रशस्त करने वाले प्रमुख दैनिक पत्रों का परिचयात्मक विवरण इस प्रकार है—

विश्वमित्र : विश्वमित्र का प्रकाशन श्री मूलचंद्र अग्रवाल ने कलकत्ता से सन् १९१६ में किया। यद्यपि इस पत्र का प्रकाशन गांधीयुग के पूर्व हो चुका था किंतु यह गांधीयुग में भी प्रकाशित होता रहा। इस पत्र का प्रकाशन चलकर कानपुर से भी होने लगा। यह पत्र राष्ट्रीय आंदोलन का प्रबल प्रचारक था।

आज : आज भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतिनिधि पत्र था। इसका प्रकाशन लोकमान्य तिलक से आशीर्वाद प्राप्त करके ०५ सितम्बर, १९२० को वाराणसी से बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने किया। इस पत्र के संपादक बाबू श्री प्रकाश जी थे। पं. बाबुराव विष्णु पराड़कर सहयोगी संपादक थे जो आगे चलकर इसके संपादक हो गये। पराड़कर जी के संपादकत्व में आज और राष्ट्रीय आंदोलन एक दूसरे का पर्याय हो गया।

प्रताप : हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में दैनिक प्रताप देशभक्ति की बलिदानी परंपरा का प्रखर पत्र माना जाता है। अमर शहीद गणेश शंकर विधार्थी ने सन् १९१३ में कानपुर से साप्ताहिक पत्र के रूप में इसका प्रकाशन किया जो असहयोग आंदोलन के दौरान सन् १९२० में दैनिक पत्र के रूप में परिवर्तित हो गया। यह पत्र न केवल राष्ट्रीय आंदोलन का संवाहक पत्र था वरन् क्रांतिकारी चेतना का प्रचारक पत्र भी था। प्रताप कार्यालय क्रांतिकारियों का आश्रय स्थल बन चुका था।

वीर अर्जुन : वीर अर्जुन सन् १९२३ में अर्जुन नाम से प्रकाशित हुआ जो आगे चलकर वीर अर्जुन हो गया। इसका प्रकाशन स्वतंत्रता संग्राम के अप्रतिम योद्धा स्वामी श्रद्धानंद जी ने किया था। इस पत्र के संपादक प्रोफेसर इंद्र विद्यावाचस्पति थे। राष्ट्रीय आंदोलन में इस पत्र की भूमिका सवर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। इस पत्र का ध्येय वाक्य था— 'न दयं न पलायनम्'।

महारथी : स्वतंत्रता संग्राम सेनानी श्री रामचंद्र शर्मा ने सन् १९२५ में मासिक पत्र के रूप में 'महारथी' का

प्रकाशन किया जो कालांतर में दैनिक पत्र के रूप में प्रकाशित होने लगा। स्वातंत्र्य चेतना के अभिव्यक्तिकरण में इस पत्र को कई बार ब्रिटिश सत्ता का कोप भाजन बनना पड़ा तथा श्री रामचंद्र शर्मा को जेलयात्रा भी करनी पड़ी।

नवयुग : श्री सत्यकाम विद्यालंकर के संपादकत्व 'नवयुग' का प्रकाशन दिसम्बर, १९३३ में हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन में इस पत्र का योग अविस्मरणीय है।

हिंदुस्तान : हिंदुस्तान टाइम्स लिमिटेड के तत्त्वाधान में पं. सत्यदेव जी विद्यालंकर के संपादकत्व में 'हिंदुस्तान' का प्रकाशन १२ अप्रैल, १९३६ को कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के अवसर पर हुआ। यह पत्र कांग्रेस का प्रबल समर्थक था। राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधियों, गांधी जी की विचारधारा और कांग्रेस की नीतियों का प्रचार इस पत्र का मुख्य उद्देश्य था।

आर्यावर्त : दरभंगा नरेश के स्वामित्व तथा पं. दिनेश दत्त झा के संपादकत्व में 'आर्यावर्त' का प्रकाशन पटना से सन् १९४१ में किया गया। बिहार में राष्ट्रीय आंदोलन का यह प्रबल प्रचारक पत्र था।

नवभारत : मराठी नवाकाल प्रतिष्ठान द्वारा नवभारत का प्रकाशन बम्बई से हुआ। आगे चलकर इसी नाम से दिल्ली से भी प्रकाशित होने लगा। एक अन्य 'नवभारत' श्री रामकृष्ण डालमिया ने प्रकाशित किया जो आगे चलकर 'नवभारत टाइम्स' हो गया। 'नवभारत' नाम से ही सन् १९३८ में श्री गोपाल माहेश्वरी ने नागपुर से दैनिक पत्र प्रकाशित किया जो मध्यप्रदेश का प्रमुख पत्र बन गया।

इन प्रमुख पत्रों के अतिरिक्त सन् १९२० में कानपुर से दैनिक 'वर्तमान' और 'लोकमत' कलकत्ता से पं. अंबिकादत्त वाजपेयी द्वारा 'स्वतंत्र' प्रयाग से 'भविष्य' दिल्ली से 'स्वराज्य', गुजरावाला से 'भावनामा' सन् १९२१ में कानपुर से 'आदर्श', जबलपुर से 'तिलक', सन् १९२२ में इन्द्र विद्यावाचस्पति द्वारा दिल्ली से 'वैभव', सन् १९२३ में पटना से 'ब्रह्मर्षि', सागर से 'प्रकाश', सन् १९२४ में लखनऊ से 'प्रेत', नागपुर से 'प्रणववीर', सन् १९२५ में दिल्ली से 'हिंदू संसार', कलकत्ता से 'जैन गजट' आदि अल्पजीवी दैनिक पत्र भी प्रकाशित हुए जिनका राष्ट्रीय आंदोलन में अपने सामर्थ्य के अनुसार

प्रशंसनीय योगदान था।

कलकत्ता से प्रकाशित साप्ताहिक 'भारतमित्र' भी समय-समय पर दैनिक संस्करण प्रकाशित करता रहा है। गांधी युग में भी इसका दैनिक संस्करण प्रकाशित हुआ। दैनिक 'भारतमित्र' १९३५ तक प्रकाशित होता रहा। गांधीयुगीन चेतना के संवाहन में इस पत्र का योगदान भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। कलकत्ता से ही दैनिक 'कलकत्ता समाचार' प्रकाशित हुआ था जिसका 'तिलकांक' महत्वपूर्ण विशेषांक है।

गांधीयुगीन दैनिकों के जातीय स्वर: गांधी युग में देश स्वतंत्रता आंदोलन के निर्णायक युद्ध में कूद पड़ा। महात्मा गांधी के नेतृत्व में संचालित राष्ट्रीय आंदोलन सत्य एवं अहिंसा के मूल सिद्धांत तथा सत्याग्रह के हथियार से शांतिपूर्ण उपायों को अपनाकर लड़ा जा रहा था। यद्यपि टिटपुट हिंसक गतिविधियाँ भी जारी थीं किंतु राष्ट्रीय आंदोलन अपनी समग्रता में पूर्णतया अहिंसक सत्याग्रह था जिसका लक्ष्य शांतिपूर्ण उपायों और पवित्र साधनों द्वारा स्वराज्य प्राप्त करना था।

इस कालखंड में संपूर्ण राष्ट्र में परिव्याप्त उद्दाम राष्ट्रीय चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति तत्पुगीन पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों से होने लगी। राष्ट्रीय जीवन में उद्बलित तरंगों के प्रकटीकरण का सबसे प्रभावशाली माध्यम सन् १९२० से १९४७ के मध्य प्रकाशित दैनिक समाचार पत्र बने। इस कालखंड में छोटे-बड़े पाँच दर्जन से भी अधिक पत्र प्रकाशित हुए किंतु युगीन चेतना का संवाहन 'आज, दैनिक प्रताप और वीर अर्जुन' सरीखे पत्रों द्वारा हुआ।

सन् १९२० में बाबू विशवप्रसाद गुप्त द्वारा प्रकाशित दैनिक 'आज' तो राष्ट्रीय आंदोलन का पर्याय ही बन गया। 'आज' राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान अपनी प्रखर राष्ट्रीयता की पराकाष्ठा का स्पर्श बाबूराव विष्णु पराड़कर जी के संपादकत्व में किया। आज के प्रवेशांक में ही 'हमारा दृष्टिकोण' शीर्षक के अन्तर्गत इस पत्र का उद्देश्य बताया गया है, जो निम्नलिखित है-

१. "भारत के गौरव की वृद्धि और उसकी राजनीतिक उन्नति उसका विशेष लक्ष्य होगा।"

२. 'हमारे सिद्धांत समान्यतः स्वराष्ट्र दल के हैं।

स्वराष्ट्र दल से यह मतलब नहीं कि जो कांग्रेस कहेगी उसका हम अवश्य ही पालन करेंगे।'

३. 'हमारा उद्देश्य देश के लिए सर्वप्रकार से स्वतंत्रता पाने का होगा। हम हर बात में स्वतंत्र होना चाहते हैं।'

"'आज' देश में राजनीतिक जागरण और चेतना उत्पन्न कर एक नई परंपरा का श्रीगणेश कर रहा था तथा असहयोग आंदोलन का प्रबल समर्थक था।" गांधी जी के संदेशों और राष्ट्रीय चेतना के प्रचारक पत्रों में 'आज' अग्रगण्य बन चुका था। अपने समाचारों, संपादकीय लेखों, टिप्पणियों, विशेष लेखों आदि द्वारा संपूर्ण राष्ट्र को स्वाधीनता संग्राम में कूदने हेतु प्रेरित कर रहा था। डॉ. लक्ष्मी शंकर व्यास ने लिखा है- "पराड़कर जी के संपादकत्व में 'आज' ने राष्ट्रीय आंदोलन और स्वाधीनता संग्राम में जिस प्रकार योगदान दिया वह अभूतपूर्व और चिरस्मरणीय है।" 'आज' भारतीय स्वाधीनता का प्रबल समर्थक था। आंदोलन के दिनों में जब अग्रलेख का लिखना कानून की मार में आता था उस समय संपादकीय कालम को कोरा छोड़कर उस 'काले कानून की भेंट' लिख दिया जाता था।"

दिन-प्रतिदिन राष्ट्रीय आंदोलन के विस्तार और राष्ट्रीय पत्रों द्वारा उत्पन्न जातीय चेतना के मुखरित स्वर से घबराकर सरकार ने १९३० में प्रेस अध्यादेश जारी किया। 'आज' सहित अन्य पत्रों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई हुई। असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान कई बार 'आज' का प्रकाशन स्थगित करना पड़ा। इस दौरान 'रणभेरी' नामक गुप्त पत्र भी पराड़कर जी ने प्रकाशित किया। इस गुप्त पत्र की हुंकार थी- 'दमन से द्रोह बढ़ता है, स्वतंत्रता की पिपासा लाठियों-गोलियों से नहीं बुझा करती और नौकरशाही के गोबर भर गंदे दिमाग में इतनी समझ कहाँ? वह तो शासन का ही एक शस्त्र जानती है- बंदूक।' रणभेरी के शीर्ष पर लिखा रहता था- 'रणभेरी बज उठी वीरवर पहनो केशरिया बाना।' सरकार की कटु आलोचना और राष्ट्रीय चेतना के प्रचार-प्रसार के कारण 'आज' से जमानते मांगी गई तथा पराड़कर जी पर राजद्रोह का मुकदमा भी चला।

सन् १९१६ में प्रकाशित 'विश्वमित्र' भी इस कालखण्ड में राष्ट्रीयता का प्रचारक पत्र था। इसके प्रकाशक संपादक

मूलचंद्र अग्रवाल ने लिखा है- “‘विश्वमित्र’ प्रकाशित करने पर ‘रमता योगी’ शीर्षक से मैंने प्रतिदिन एक कालम सामग्री देकर दो प्रतिष्ठित पत्रों के रहते हुए ‘विश्वमित्र’ के लिए पाठक प्राप्त कर लिए।’

गांधीयुग में राष्ट्रीयता के प्रबल प्रचारक पत्रों में ‘आज’ के साथ ही दैनिक ‘प्रताप’ का योगदान भी चिरस्मरणीय है। हिंदी पत्रकारिता, स्वाधीनता संग्राम और देशभक्ति की बलिदानी परंपरा के इतिहास में अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी का नाम अत्यंत आदर के साथ लिया जाता है। गणेश का पत्र ‘प्रताप’ सन् १९१३ में एक साप्ताहिक पत्र के रूप में प्रकाशित हुआ किन्तु सन् १९२० में स्वाधीनता संग्राम एवं राष्ट्रीय चेतना के व्यापक प्रचार-प्रसार हेतु इसका दैनिक संस्करण प्रकाशित हुआ। पं. बालकृष्ण शर्मा ‘नवीन’ ने लिखा है- ‘नवयुवकों को परखना, उन्हें आश्रय देना, उन्हें अनुप्राणित करना और उनके जीवन को बनाना गणेश शंकर जी की विशेष बात थी। वह अद्भुत थे। सन् १९१३ से १९३० तक इस देश में कोई भी एकसा आंदोलन नहीं हुआ जिसका प्रसार-प्रचार और आंशिक नेतृत्व गणेश शंकर विद्यार्थी ने न किया हो।’ प्रताप का ध्येय वाक्य था-

“जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।

वह नर नहीं नर पशु निरा है, और मृतक समान है।”

गणेश शंकर विद्यार्थी और उनके ‘प्रताप’ का क्रांतिकारी तेवर सरकार के लिए असह्य हो गया। विद्यार्थी जी भगत सिंह सहित अन्य क्रांतिकारियों को शरण देते थे। उनके विचार ‘प्रताप’ में छापते थे। कई बार उन्होंने हिंसा का समर्थन भी किया। फलस्वरूप गणेश जी पर मुकदमा चला, सजा हुई और कुछ दिन दैनिक प्रताप का प्रकाशन बंद भी करना पड़ा।

राष्ट्रीय आंदोलन के प्रचारक दैनिक पत्रों में स्वामी श्रद्धानंद की प्रेरणा तथा इन्द्र विद्यावाचस्पति के संपादकत्व में प्रकाशित अर्जुन आगे चलकर वीर अर्जुन का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। डॉ. पद्माकरण पाण्डेय ने लिखा है- “‘स्वाधीनता की लड़ाई में ‘अर्जुन’ की भूमिका चिरस्मरणीय रहेगी। इस पत्र ने न केवल अंग्रेजी राज्य का ही विरोध किया वरन् देशी रियासतों में होने वाले अत्याचारों

के विरोध में भी उसने शक्तिशाली वाणी अनुगुंजित की।” इस पत्र का ध्येय वाक्य ही थी- “‘नदैन्यं न पलायनं।”

दैनिक ‘महारथी’ का प्रकाशन ही ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देते हुए बिना डिक्लेशन के हुआ। इसके प्रकाशक स्वतंत्रता संग्राम के महान योद्धा श्री रामचंद्र शर्मा थे। इनके जेल जाने के साथ ही ‘महारथी’ की संघर्ष गाथा समाप्त हुई।

सन् १९३६ में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के अवसर पर प्रकाशित ‘दैनिक हिंदुस्तान’ तो कांग्रेस पार्टी का मुख पत्र ही था। अतः इसके पृष्ठों से जातीय स्वर की अभिव्यक्ति स्वाभाविक थी।

‘नवयुग’ का संचालन भी कांग्रेस नेतृत्व के हाथ में था। पटना से प्रकाशित ‘आर्यावर्त’ यद्यपि दरभंगा स्टेट का पत्र था फिर भी वह स्वतंत्रता का समर्थक था। इस पत्र की सोच लोकतांत्रिक तथा स्वर लोकहितकारी रहा है। कानपुर से रमाशंकर अवस्थी द्वारा प्रकाशित दैनिक ‘वर्तमान’ भी राष्ट्रीय आंदोलन का एक तेजस्वी पत्र था। ‘वर्तमान’ स्वतंत्रता आंदोलन का समर्थक पत्र था। पत्र निकलते तीन साल भी पूरे नहीं हुए थे कि ‘वर्तमान’ के अग्रलेखों को लेकर फिरंगी सरकार ने राजद्रोह का मुकदमा चला दिया, जिसमें संपादक को दो साल की सजा हो गई।’

मध्य प्रदेश से प्रकाशित दैनिक ‘प्रकाश’ स्वतंत्रता के उद्देश्य से स्वयं को जोड़कर सरकार को चुनौती देता रहा है। इसके पृष्ठों से भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की ललकार गूंजती थी। एक खबर का शीर्षक द्रष्टव्य है-

“१८ तारीख को झंडा दिवस मनाओ।

जुलूस निकालने की तैयारी करो।।”

दैनिक ‘हिंदी मिलाप’ का उद्देश्य था- “‘स्वराज्य प्राप्त करने के लिए हिंदुस्तान की सभी कौमों की एकता आवश्यक है। जब तक हिंदू और मुसलमान एक नहीं होते तब तक आजादी मयस्सर नहीं हो सकती।’ इस पत्र और इसके संपादक को शासकीय दंश झेलना पड़ा।

स्वतंत्रता संग्राम सेनानी श्री कृष्णदत्त पालीवालज के साप्ताहिक ‘सैनिक’ का दैनिक संस्करण भी क्रांतिकारी विचारों का प्रचारक था। दैनिक का प्रथम अग्रलेख द्रष्टव्य है- “‘सैनिक’ क्रांति का सैनिक है। उसका अटल विश्वास

है कि हमारे मन में राजनीतिक जगत में ही नहीं, सभी क्षेत्रों में, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी, पूर्ण क्रांति की आवश्यकता है।” क्रांति के संदेश को जन-जन तक संचारित करना ही ‘सैनिक’ के दैनिक संस्करण का महादुद्देश्य था। ‘सैनिक’ के संपादक को गिरफ्तार किया गया और प्रेस पर ताला लगाकर पुलिस का पहरा बिठा दिया गया।

खण्डवा से प्रकाशित देशबंधु में राष्ट्रीयता की भावना से परिपूर्ण कविताएँ प्रकाशित की जाती थी। प्रयाग से प्रकाशित दैनिक ‘भारत’ भी एक दीर्घजीवी पत्र था जिसके स्वर में प्रखर राष्ट्रीयता थी। द्वारका प्रसाद मिश्र के संपादकत्व में प्रकाशित दैनिक ‘लोकमत’ ने सरदार भगत सिंह ने मुकदमें की कार्यवाही जब विस्तार में प्रकाशित किया तब उस पर सेंसरशिप लगा दिया गया। सेंसर के विरोध स्वरूप पत्र ने अपने संपादकीय स्तंभ को खाली छोड़कर उस पर एक शेर प्रकाशित किया, जो निम्नलिखित है—

‘जवां है बन्द, कलम को पिन्हाई है जंजीर
बयाने दर्द की बाकी नहीं कोई तदबीर।’

दैनिक ‘लोकमान्य’ के संपादकीय पृष्ठ पर ‘लोकमान्य’ शीर्षक के नीचे निम्नलिखित पंक्तियाँ प्रकाशित की जाती थी—

‘‘कोटि-कोटि कलकण्ठ एक मत येहे पुकारौ।
है स्वराज्य तौ जन्मसिद्ध अधिकार हमारौ।’

इस प्रकार गांधीयुगीन दैनिक पत्रों के पृष्ठों से निःसृत जातीय स्वर से न केवल राष्ट्र की स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि

निर्मित हुई वरन् सदियों की दासता से देश आजाद हुआ। यद्यपि आज, प्रताप, वीर अर्जुन सरीखे पत्र तो स्वतंत्रता संग्राम तथा राष्ट्रीय आंदोलन के पर्याय ही बन चुके थे किंतु इस कालखण्ड के अन्य अल्पजीवी, मझोले एवं छोटे पत्रों का योगदान भी किसी मायने में कम नहीं था। इन पत्रों ने भी अपनी सीमित क्षमता एवं संसाधनों के बावजूद परतंत्र भारत में स्वतंत्रता की आकांक्षा एवं राष्ट्रीयता के भाव को प्रसारित एवं संचारित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया।

संदर्भित ग्रंथ :

१. के.एम.पणिकर, द फाउनडेशन ऑफ न्यू इंडिया
२. डॉ. पद्माकर पाण्डेय, हिंदी पत्रकारिता और राष्ट्रीय आंदोलन
३. आचार्य नरेन्द्र देव, राष्ट्रीयता और समाजवाद, साभार—
- डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र, हिंदी पत्रकारिता
४. जवाहर लाल नेहरू, डिस्कवरी ऑफ इंडिया
५. एस. नटराजन, ए हिस्ट्री ऑफ द प्रेस इन इंडिया
६. राम नारायण चौधरी, गांधी मार्गी पत्रकारिता के करिश्मे— मेरे संस्मरण, प्रकाशकीय
७. मतवाला
८. डॉ. वेद प्रकाश वैदिक, हिंदी पत्रकारिता: विविध आयाम
९. डॉ. संपूर्णानंद, हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास (त्रयोदश भाग)
१०. विजयदत्त श्रीधर, भारतीय पत्रकारिता कोश (खंड-२)
११. बाबू मूलचंद्र अग्रवाल, पत्रकार की आत्मकथा

संपर्क : प्राध्यापक— पत्रकारिता एवं जनसंचार विभाग, म. गां. काशी विद्यापीठ, वाराणसी

डॉ. सुवंश ठाकुर 'अकेला'

खड़ा करो हंगामा

मेरी दिली चाहत है
कि खड़ा करो
कोई कारगर हंगामा
पूरे समर्पण के साथ !
कि कोई उजड़ा हुआ
घर बस जाये,
कोई चिराग
कहीं अंधेरे में
टिमटिमाये तो सही
खुद-ब-खुद
पहुँचेगा सूरज
जल्द ही एक दिन,
खड़ा करो ऐसा हंगामा
कि पसीने की कुटिया
तब्दील हो जाये
महलों में और
धराशायी हो जाए
अमीरों के महल,
थोड़ा सा नमक
डाल दो चुपके से
खजाने के तालाब में
कि खुद-ब-खुद
वमन कर दे सारे जोंक
चूसे गए खून !

कौन याद करेगा
तुम्हें कि-
चुपचाप आये और
चुपचाप चले गए
कोई कारगर हंगामा
खड़ा करके तो जाओ !
अगर शोर मच जाये
एक तीली जलाने से
मानव-मंदिरों में
तो हर्ज ही क्या है
हंगामा खड़ा करने में ?
खड़ा करो ऐसा हंगामा
कि तूफान आ जाये
और उड़ जाये
गोदामों की मूक बधिर छत
और भरभरा जाये
उसकी ऊँची दीवार
और उड़ने लगे
सोये हुए अनाज
पहुँच जाये भूखों के देश !
हंगामा खड़ा करो ऐसा
कि जंगल, पहाड़
कटते वक्त
प्रकट हो जाये

झुंड के झुंड बाघ
और क्षत-विक्षत कर डाले
काटनेवालों को !
हंगामा खड़ा करो ऐसा
कि नदियों को भथते वक्त
प्रकट हो जाये घड़ियाल
और निगल ले
भथनेवालों को !
एक बार बजा दो
पगली घंटी और
बुला लो एक साथ
अपने हुजूम को !
याद करो, कहा गया था
तुम्हें चूहा डरपोक
तो खोद डालो
अपने पैने दाँतों से
पूँजी-पहाड़ की जड़
एक दिन गिरेगा जरूर
भरभराकर पहाड़,
और भी ढेर सारे
खड़े करो हंगामे वहाँ
जहाँ-जहाँ आम जन-जीवन
ध्वस्त और त्रस्त हैं
लुटेरे महाजनों से !

युद्ध अभी चलता रहेगा

अनवरत यह चलता रहेगा
 युद्ध कभी बंद नहीं होगा
 कभी रक्तपात नहीं होगा
 सलीके से उत्पात मचता रहेगा,
 काट-काटकर ऊँचे दुर्गम टीले
 दिन-रात खाई को भरना होगा
 खाई अभी बहुत गहरी है
 कुदाल भोथड़ा नहीं हुआ है,
 कठिन है युद्ध हाथ-पाँव से
 दिमागी घोड़े दौड़ाना होगा
 खाई खोदने वालों की आँखों में
 मिर्च पावडर डालना होगा,
 तुम्हारे बीच दिन भर जो सियार
 अलापता है राग सुहाना
 रात में मौज-मस्ती करता है
 मुक्ति-आंदोलन का दीवाना,
 बेशर्म टीले की रंगीन टोली में
 चैन की वंशी बजाता है
 बीच-बीच में
 हुआँ-हुआँ करता है
 ताकि खाई के कबीले
 गफलत में था भय से
 नहीं निकल पाये
 अन्तहीन गहरी खाई से!
 सन्तालोलुप गिरगिट
 घात लगाये रहता है
 तुम्हें कीड़ा समझता है
 रंग बदल देता है,
 गीदड़ ओढ़ रखा है
 बाघ की खाल
 इससे डरना नहीं

लड़ना पहचानकर चाल,
 सिर्फ हवा-हवाई में नहीं
 युद्ध अभी जारी रहेगा
 कहाँ-कहाँ दीमक
 कर रही है मटरगश्ती और
 गूदे खा-खाकर
 गिरा रही है घुन
 भीतर भी घुसना होगा!
 बहुरूपिया जो आ रहा है
 गद्दी पर घात लगाये
 तुम्हें लुभाने दाँत खिसोटे
 साड़ी, कम्बल और चंद
 नोटों और सिक्कों के साथ
 उसे तुम छूना तक नहीं
 मत थामना मिठाई के पैकेट
 उसमें मिली हुई है धीमी जहर
 जो तुम्हें हमेशा निर्बुद्धि और
 गुलाम बनाये रखेगा और
 कभी नहीं निकलने देगा
 पेंचीदी गहरी खाई से बाहर!
 अपने हक-हुकूक को जानो
 नहीं तो हार जाओगे
 जीवन-युद्ध में और कभी
 नहीं पाट पाओगे खाई
 अपनी ताकत को पहचानो!
 धोखा खाते रह जाओगे
 मुहर लगाते रहे न
 उसी शातिर के पक्ष में!
 टीले ऊँचे होते गए
 खाई गहरी होती गई
 और तुम, युद्ध हारते गए

आजादी के वर्षों बीत गए!
 तुम्हारी अस्मिता पर
 यदि कोई हाथ उठे
 उसे मरोड़ना मत
 चूम लेना प्यार से
 क्योंकि उन हाथों में
 तुम्हारी ही दी हुई ताकत है!
 हाँ इतना जरूर करना
 उसकी आँखों में अपनी
 आँखें डाल देना तरेरकर
 पूरे विश्वास के साथ!
 बड़ा शातिर दिमागी है वह
 बस इतना भर करना
 कि अपने शक्तिशाली
 सहयोग के हाथ
 अलग कर लेना
 वह तो लूला और लंगड़ा है
 तुम ही तो उसकी
 अस्मिता की जड़ हो!
 पता होना चाहिए तुम्हें
 कि भारत के किसी खास
 महकमे की जागीरदारी
 बिल्कुल नहीं है यह!
 तुम्हें याद रखना होगा
 महामंत्र उस समय भी
 जब तुम अपने पसीने का
 होम करते हो किसी टीले पर
 याद रखना होगा कि-
 युद्ध अभी चलता रहेगा!

बब्ब देता हूँ मोबाइल

थोड़े से तड़पते बचे-खुछे	और पटकता हूँ इस
अंतिम संवाद आप्त जनों से	मोबाइल युग पर !
आस लगाये अपने लोग-बाग से	पत्र का प्यार झिलमिलाने
प्राण निकलते वक्त की चाहत	लगता है दूर बहुत दूर
जैसे प्रवास में आये हुए मर्माहत	कहीं कब्र में दफन !
जाता है दौड़-दौड़कर अपने	पछताता हूँ ठीक वैसे
घर-बार और पास पड़ोस	जैसे बीज डालकर किसान
यादें बचपन की खट्टी-मीठी	ऊसर बलुवाही जमीन में !
प्रवास सूखे गन्ने की सिट्टी !	समर्पित किसी प्रेमिका के प्राण
और इस बुरे वक्त में	खेत-खोका पुरुष के नाम !
निकालता हूँ गले में झूलती	समर्पित सच्चा प्रेमी
फाँस की तरह, मोबाइल फोन	करता आया हो जैसे
अनेक नाम और नम्बर दर्ज	किसी वेश्या का गुणगान !
असमंजस में सोचता हूँ	कह देता है थककर हारकर
कोई तो चुकायेगा कर्ज	मेरा दिल ! रख दो, छोड़ो !
कोई तो निभायेगा फर्ज	नहीं आयेगा कोई भी तेरे काम !
उसे लगाऊँ ? किसे लगाऊँ ?	और बिना लगाये झल्लाकर
लगा देता हूँ नाक के बाल को	रख देता हूँ मोबाइल !
सभी लाइनें व्यस्त हैं इस रूट की	
पहुँच के बाहर है	एक आम कई आम
आप जिस जिस नंबर को	मैं सोचता हूँ-
संपर्क करना चाह रहे हैं	एक पका हुआ मीठा आम
वह अभी जवाब	जब कटकर वह कतरा-कतरा
नहीं दे रहा है और	बँट जाता है कई अतृप्त
अंत में नो नेटवर्क !	लोगों के बीच !
फिर लगाया तो-	उस मीठे आम का कितना
करेन्टली स्विच ऑफ !	बुरा हाल होता है
खीजता हूँ झल्लाता हूँ	जब अघाए लोग बदहजमी
अपनी नादानी पर सिर धुनता हूँ	और दस्त के शिकार होते हैं !

संपर्क : 'शिल्पायन' सिपाही टोला, चूनापुर रोड, उत्तर गली नं. 11, पूर्णिया- 854301 (बिहार) मो. 09973264550

सविता मिश्र

पतंग के बहाने से

कमरे की खिड़की से
दिखाई देते चोकर आसमान में
उड़ रही है पीली पतंग
जरूर किसी छत पर
छिपकर चढ़ेंगे बच्चे
या फिर किसी गली में
खेलने निकले होंगे मांझा छिपाकर
कानों में गूँजने लगी है
नदी ले पहाड़ की आवाजें
और बरसों बाद
मन के भीतर सुन रही हूँ
दूर से आती आवाजें
'हरा समन्दर गोपी चन्दर'
पतंग उड़ रही है आसमान में
डूबते सूरज की आँखों में
बढ़ती जा रही है चमक
जरूर किसी आँगन में बैठी दादी माँ
टेर रही होंगी बच्चों को
बच्चे हुलस रहे होंगे अपनी टोली में
बरसों बाद
पतंग के बहाने
जी भरकर जी ली हैं कितनी ही शामें
वो सुनो...
टन-टन-टन! कैसा रंग ?
गुलाबी रंग छूने
गुलाबी फ्रॉक में भागती जा रही हो तुम
बच्चे हँस रहे हैं तालियाँ बजाकर।

उम्मीद

आओ
आओ न बाहर
चैत की शाम ने बहुत उम्मीद से कहा
सिमटते संबंधों के दौर में
शाम ने एक खूबसूरत पहल तो की कम
से कम।
मुझे बाहर देख
बहुत खुश थी शाम
चैत की हवाएँ
गली में टहलती रहीं साथ-साथ
खुलने लगे खिड़की दरवाजे
कुछ आँखों में
झाँकने लगी सहमी-सी उम्मीद।
आओ न बाहर
फिर कहा मैंने
कुछ लोग शायद इसी इंतजार में थे।
धीरे-धीरे दरकने लगा सन्नाटा
गली में गूँजने लगे संवाद
बहुत दिनों बाद
सबकी बातों में
एक-दूसरे के सुख-दुःख शामिल थे।
आज
बहुत दिनों बाद
हुलस कर चमका था चाँद
उम्मीद है
कल की शाम
गली में उत्सव होगा।

छैसाख का मन

उस वक्त
अचानक खूबसूरत हो उठती है जिंदगी
जब खिड़की से दिखाई दे जाता है
बादलों से भरा नीला आसमान
रेलिंग पर हरी पत्तियों के बीच
रह-रहकर गमकती है बेला
और नारंगी फूलों पर
नीले पंखों वाली, चिड़िया
लिखती रहती है प्रेम-गीत।
झर-झर... झरने लगते हैं नारंगी फूल
बरसने लगते हैं बादल
धुल जाता है आसमान का मन।
कुछ और गमक उठती है बेला
कुछ और हरी हो जाती है पत्तियाँ
बारिश में भीगती रहती है दोपहरी
कुछ और बौरा जाती है
नीले पंखों वाली चिड़िया।
प्रेम-गीतों को बाँचने लगती है हवाएँ
कुछ गीला-गीला-सा हो उठता है
बैसाख का मन।

खिड़की

खिड़की का होना
सारे मौसमों का होना है
खुले आसमान
बारिश का
धूप का
मिट्टी की खुशबू का होना
चाँद और चिड़िया का होना है
बहुत कुछ होना है
सचमुच जिंदगी का होना है।

वेशम

रेशम बुहारती है हर रोज
कैम्पस का अहाता... दूर तक फैला हुआ
मौसम कोई भी हो
अलकसाती नहीं
अनसुना करती है कलाइयों का दर्द
अनदेखा करती है
दुधमुँहे बेटे का भूख से बिलखना
आह भर कर देखती है
ठंडे चूल्हे को
निकल पड़ती है छोड़कर
बुखार में तपते, चीखते, तड़पते बच्चे को
बुहारती रहती है कोना-कोना
सुबह से शाम तक
कब मिलेगी पगार
कब खरीद पायेगी
दीनू काका की दुकान पर टंगा
टमाटरी रंग का पालना
सोचती है...सोचती ही रहती है
और बुहारती चली जाती है
कलाइयों का दर्द अनसुना करते हुए।

संपर्क:

आर.बी.डी. कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.),
मो. 09719659317

मीरा श्रीवास्तव

अपना घर

कल मैं उस घर में थी,
सबने कहा- तुम्हारा ही घर है,
मैं झाड़ती रही उसे, पोंछती रही
उस घर की दीवारों की धूल
अपनी पलकों से बुहारती रही,
खुश होती रही कि यह घर मेरा है।
इसके अगले कुछ दिनों बाद
मैं एक दूसरे घर में थी-
खुला, हवादार, चमचमाते फर्श वाला
सजे सजाये कमरे, लकदक दीवारें-
मैं मन मसोसे, चुपचाप देखती रही
पूरे घर को, कमरे दर कमरे,
सबने फिर एक साथ कहा-
देखो यह तुम्हारा ही घर है।
मैं मन में खुशी को दबाये
चमकते फर्श को चमकाने लगी
अलबत्ता तो धूल का कहीं
नामोनिशान न था
फिर भी दीवारों को झाड़ने लगी।
और फिर अगले कुछ ही दिनों के बाद
फिर सबने कहा- अब तुम्हें
अपने घर जाना है
और मैं यहाँ आ गई,
आकर देखा-चौखट, दरवाजे, खिड़कियाँ,
छत और दीवारें सब पर चुप्पी छाई थी।
इतने दिनों बाद भी मुझे देख
कहीं कोई जुम्बिश तक नहीं हुई,
सुबह के फैलते उजास में मुझे दिखी
खिड़कियों के फ्रेम में धूल की परत
चौखटों में चिपके मकड़ियों के महीन जाले
दीवारों पर जिद्दी धूल चढ़ बैठी थी

और छत पर छाये घुसपैठियों से
सिर पर गिरने को बेसब्र!
महीने डेढ़ महीने क्या गायब रही मैं
और ऐसा घर ?
मेरा यकीन पक्का हो चला है कि
इस बार मैं सचमुच अपने ही घर में आई हूँ,
यही! सचमुच यही, यही घर मेरा है।

विश्वास और उन्माद

धू-धू कर आकाश जल रहा है
उसकी लौ नीचे पसरी जमीन को
झुलसा रही है बाहर से, भीतर से
चल-अचल, जड़-चेतन, सूक्ष्म-स्थूल
सब इस आँच में तप, जलकर
चेतना शून्य हो गये हैं।
कौन किसे मार रहा ?
कौन किसे बचा रहा ?
तय करना मुश्किल है।
उन्माद के इस गाढ़े रंग में
इंसानियत का फीका रंग,
कहीं से पकड़ में नहीं आ रहा।
विश्वास की डोरी कब की टूट चुकी
भय, संशय, अविश्वास की मजबूत गाँठों
के बीच विश्वास को जोड़ने की
कोई वजह नहीं, कोई संभावना नहीं।
विश्वास की डोरी कमजोर...बहुत कमजोर है
और हमारे भीतर बैठा अविश्वास
अपनी जड़ें भीतर तक पैठा कर
विश्वास की डोरी को ऐसे काट चुका है
छोटे-छोटे टुकड़ों में कि-
हमें अब अपने आप पर ही विश्वास नहीं है।

संपर्क : राजेन्द्र नगर, आरा-802301
भोजपुर-बिहार, मो. 09576250555

अशोक सिंह

अकेली औरत

अकेली औरत
 उस सुनसान सुंदर हवेली की तरह होती है
 जो भीड़ भरे शहर की आखिरी छोर पर खड़ी
 अपनी नक्काशियों पर रोती है
 लोग कहते हैं
 जिस गली से गुजरती है
 वह गली तक अकेली और उदास हो जाती है
 यहाँ तक उसके घर के तरफ से आने वाली हवा भी
 जिसे छू जाती है,
 वह भी हो जाता है शिकार अकेलेपन का
 अकेली औरत के अकेलेपन में कोई देवता नहीं होते
 होती है जानी पहचानी सी एक पुरुष-परछाई
 अपनी अनुपस्थिति में भी दर्ज करता उपस्थिति
 जो छाया रहता है उसके पूरे वजूद पर
 उस अमरवेल की तरह
 जिसका न जड़ होता है न पत्ता
 अकेली औरत
 रात-रात भर करवट बदलती
 टटोलती है बिस्तर पर उसे
 जो उसका होकर भी उसका नहीं होता
 उसे भी जो पूरी तरह उसका नहीं होकर भी
 बना रहता है उसके लिए अनिवार्य
 अकेली औरत
 रोज रात गिरती है बिस्तर पर
 बारिश में कच्ची दीवार की तरह भरभरा कर
 और उठती है हर सुबह
 घर की छत से धुँआ की तरह
 अकेली औरत
 आइने से डरती है

आइना भी डरता है उससे
 उसकी उम्र
 दीवार में लगे पुराने पलस्तर सी झड़ती है रह-रहकर
 अकेली औरत
 अक्सर शून्य में खोयी
 ढूँढ़ती रहती है अपने भीतर कुछ न कुछ
 कभी-कभी सामने दीवार पर लगी
 तस्वीर निहारती सोचती है
 काश! तस्वीर में जड़ा आदमी साकार हो सामने खड़ा
 हो जाता तो
 जी भर बतियाती अपना सुख-दुख
 और लिपटकर सारी रात उसमें
 सो जाती कभी न उठने के लिए
 अकेली औरत का हँसना नहीं देख पाता कोई
 न ही सुन पाता है उसका रोना
 उसके भीतर से निकली चीख तो दीवारों से टकराकर
 उसके भीतर ही गुम हो जाती है न जाने कहाँ...
 कभी-कभार जो हँसती है ठठाकर
 काँप जाती है दसो-दिशाएँ
 रोती-चीखती है दहाड़े मारकर
 तो डोलने लगती है धरती
 अकेली औरत
 न सिर्फ अपने आपसे
 पूरे मोहल्ले और शहर तक से रहती है बेखबर
 नहीं जानती यह राज कि
 मोहल्ला रखता है
 उस पर नजर
 अपने अकेलेपन में अपने-आप के सिवा
 किसी और से नहीं बतियाती वह।

पर पूरा मोहल्ला बतियाता है फुसफुसाहटों में
 खासकर वे पड़ोसी औरतें
 जो दूसरे को उसकी परछाई से भी
 दूर रहने की सलाह देती
 रखती है उसके बारे में सबसे ज्यादा खबर
 अकेली औरत
 अक्सर भूल जाती है कुछ न कुछ
 कभी उसका रखा बटुवा उसे नहीं मिलता
 तो कभी चाभी का गुच्छा ही हो जाता है गुम
 घर की बहुत सारी जरूरी चीजों से बेखबर
 पता नहीं क्या ढूँढ़ती है अपने अकेलेपन में कि
 उसकी अव्यवस्थित दुनिया में
 कुछ भी नहीं रहता व्यवस्थित
 सिवा उस अतीत के
 जिसे झाड़-पोछकर रखती है हर रोज
 सबकी नजरों से बचाकर
 अकेली औरत को
 यह भरी-पूरी सुंदर दुनिया रेगिस्तान लगती है
 फूलों से ऐसी नफरत, मानो
 उसका मुँह चिढ़ाते हों फूल
 लगाव अंधेरों से इतना
 रोशनी दूर तक नहीं फटकती उसके
 कोई भी सुंदर दृश्य हो
 या कर्ण-प्रिय संगीत
 छूकर उसकी आत्मा को
 बदल नहीं सकता उसका मन-मिजाज
 अपनी पीठ पर
 हजारों नजरों के
 तीर की चुभन झेलती
 अकेली औरत चलती है सड़क पर
 नजरों से कुरेदती जमीन
 नहीं देखती कभी किसी को नजर उठाकर
 और कभी जो किसी को देख लेती हैं पलकें उठा
 तो आदमी डर जाता है उसकी आँखों के ताप से !

टूटा हुआ आदमी

टूटे हुए आदमी को
 एक कबाड़खाने की तरह लगती है
 सारी दुनिया
 उसके पास होता है एक टूटा हुआ दिल
 जिसमें होते हैं ढेर सारी टूटे-फूटे सपने
 रोशनी अच्छी नहीं लगती उसे
 अच्छी नहीं लगती महफिल की रौनकें
 जीवन की रंगीनियाँ दंश की तरह चुभती हैं
 सारे जमाने से हो जाती है विरक्ति
 रिश्ते-नाते सब के सब लगते हैं झूठे
 रंगों में भी हो जाती है भी उसे दिलचस्पी खत्म
 यहाँ तक कि हरे पेड़
 हरे नजर नहीं आते
 चाँदनी चिलचिलाती धूप लगती है
 नपे-तुले शब्दों में करता है बातें
 भीड़-भाड़ से रहता है अक्सर दूर
 सब कुछ टूटा-टूटा सा दिखता है
 आदी हो जाता देखने को वह
 पूरी साबूत दुनिया को भी टुकड़े-टुकड़े में
 गंभीरता की चादर ओढ़
 करता है अपने अकेलेपन में वास
 पार्क की आखिरी बेंच
 या किसी सुनसान सड़क की पुलिया पर बैठ
 घंटों खुद से बातें
 सभागार की सबसे पिछली सीट में
 अनामंत्रित की तरह बैठता है वह
 और दर्ज कराता अपने उपस्थिति
 अनुपस्थित रहता है बहस से।

छोटे लोग

छोटे लोग हमेशा तादाद में अधिक होते हैं
 अक्सर लम्बी होती है उनकी सूची
 लम्बे नहीं होते उनके हाथ
 नाक ऊँची नहीं होती उनकी
 छोटा होता है उनका कद
 छोटी होती है उनकी दुनिया
 होती हैं मुट्ठी भर छोटी-छोटी चाहतें
 छोटे लोग अक्सर
 लदे-फदे करते हैं गाड़ियों में यात्राएँ
 लाईन में खड़े होकर लेते हैं टिकट
 मोल-भाव कर खरीदते हैं चीजें
 और जैसे-तैसे खींच-तानकर
 बिताते हैं जीवन
 छोटे लोग अक्सर बड़ी जगह घेरते हैं
 पर मुट्ठी भर से ज्यादा जगह नहीं होती उनके पास
 छोटे लोगों से ही बनती है बड़े लोगों की दुनिया
 उनके होने से ही अक्सर पहचाने जाते हैं बड़े लोग
 छोटे लोग भीड़ में तख्तीयाँ उठाये
 लगाते हैं नारे
 और अपनी छोटी-छोटी माँगों के लिए
 अक्सर मारे जाते हैं जुलूस में
 बड़े लोगों की गोली से
 छोटे लोग अक्सर नीचे बैठकर सुनते हैं
 बड़े लोगों का भाषण
 बड़े लोग मंच पर बैठ
 करते हैं बड़ी-बड़ी बहसें
 छोटे लोगों पर
 चलने को तो बहुत दूर तक चलते हैं
 पर कहीं पहुँच नहीं पाते छोटे लोग
 छोटे लोग बसाते हैं बड़े-बड़े शहर
 और खुद हो जाते हैं
 दिन-ब-दिन शहर से दूर....
 छोटे लोग अक्सर डरते हैं बड़े लोगों से
 लेकिन जब वे डरना छोड़ देते हैं
 जो डरने लगते हैं उनसे बड़े-बड़े लोग

कविता कोई जादुई मंत्र नहीं है

यह सच है दोस्तों
 कविताओं से कुछ नहीं होता
 स्वीकारता हूँ तुम्हारी बात
 वैसे भी कविताएँ
 कोई जादुई मंत्र नहीं होतीं
 कि पढ़ने-लिखने मात्र से ही
 बदल जायेगी व्यवस्था
 फिर मेरी कविताएँ तो
 कविताएँ हैं भी नहीं
 सच कहूँ तो मैं ठीक-ठीक
 कविता की परिभाषा तक नहीं जानता
 न ही दर्ज करा रखा हूँ
 कवियों की सूची में अपना नाम
 मेरी कविताएँ जो कुछ-कुछ
 कविताओं जैसी लग रही है तुम्हें
 एक बयान है अपने समय के विरुद्ध
 अभिव्यक्ति है
 अपने भीतर की हजारों असहमतियों की
 एक हस्तक्षेप है
 अपने आस पास की दुनिया में
 एक आवाज है
 विपक्ष में बैठे अकेले आदमी की
 रोशनी की तलाश में निकले
 अंधेरों से घिरे आदमी की बेचैनी है
 और तो और
 यह भी सच है दोस्तों
 कि हम उतरकर सड़कों पर
 खुद बंदूक उठा नहीं सकते
 पर याद रखना, हजारों सुस्त पड़े हाथों को
 बंदूक उठाने के लिए तैयार कर सकते हैं हम !
 और कह सकते हैं
 बार-बार प्रेम में धोखा खाकर
 दुबारा फिर कभी किसी से
 प्रेम न करने की घोषणाओं के बाद भी
 कई-कई बार कई-कई लोगों से प्रेम करते हुए
 कि प्रेम करो
 जी भरकर प्रेम करो
 कि प्रेम जीवन में एक बार नहीं
 कई-कई बार होता है
 कई-कई बार होता है !

एक ख़ुला पत्र : तमाम राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम

दुमका से राँची और राँची से दिल्ली
दौड़-भाग करते छोटू बेसरा जरा ठहरो
जरा ठहरो और सोचो !

सोचे
आदिवासी के नाम पर वर्षों से चल रहे
इस राजनीतिक चक्करधिनी
से बाहर निकलकर सोचो !

सोचो कि तुम कैसे अपना कमान
उनके हाथों में थमा
खुद उनके तरकश के तीर बनते रहे
और वो तुम्हारी पीठ की आड़ से
साधते रहे निशाना

अपने-अपने हितों के लिए
सोचो कैसे तुम्हारे ही कंधे पर पैर रख
वे पहुँच गये ऊपर बहुत ऊपर
और तुम हो कि
वहीं के वहीं पड़े हो अब भी
उनका झोला उठाये

सोचो कि जब-जब भड़की आग
तुम्हारे भीतर व्यवस्था के विरुद्ध
तब-तब तुम्हारे ही बीच से निकलकर
आगे आये वे
और चले गये अपनी रोटियाँ सेंक
तुम्हें खाली पेट
भीड़ में मुट्टियाँ भाँजते छोड़ कर
क्या ऐसे में अब भी
बची रह गयी है तुम्हारी आस्था
उन झंडों और नारों में
जिसको वर्षों से ढोते रहे हो तुम

अपने थके-हारे बेजान कंधों पर ?
बचा रह गया है क्या अब भी विश्वास
इस अविश्वास भरे दौर में
अपने ही लोगों द्वारा इतने छले जाने के बाद भी ?
जबकि तुम्हारे हिस्से में
सड़कों की खाक के सिवा
सिवा झोला लटकाये झंडे उठाने
भीड़ में मुट्टियाँ बाँध नारे लगाने के
कुछ भी तो बचा नहीं रह गया है तुम्हारे पास
क्या अभी भी बची रह गयी है श्रद्धा उनके प्रति
जिनकी अगवानी में वर्षों से
स्वागत-गान गाती तुम्हारी बहू बेटियाँ
भूल कर पाँव में फटी बिआई की पीड़ा
नाचती और बस नाचती आ रही हैं
चेहरे पर तन में लिपटी हरी पंची सी हरियाली
और होठों पर पलाश फूलों सी मुस्कान ओढ़कर ?
जरा सोचो छोटू बेसरा ! सोचो !
सोचो और इन झंडों और नारों को छोड़
बाहर आओ उस जमात से
उस जमात से बाहर आओ छोटू बेसरा
जिस जमात को अपने पक्ष में
बोलने का अधिकार देकर तुमने
अपना बहुत कुछ खो दिया
मत भूलो छोटू बेसरा ! मत भूलो
जो लोग तुम्हारी समस्याओं के
समाधान के नाम पर तुम्हें
वर्षों से बहला रहे हैं और पढ़ा रहे हैं
आदिवासीयत का झूठा पाठ
वही लोग तुम्हारी सबसे बड़ी समस्या हैं।

शुभा उपाध्याय

एक दिन...

एक दिन-
जब पिता जीवित थे
मैं सोचता था
कैसे रह सकूँगा बिना इनके!
कैसी होगी वह दुनिया?
कैसी होगी वह सुबह?
कैसी होगी वह रात?
कैसे बीतेंगे दिन?
और आँखों में तैर जाती थी
तूफानों से घिरी मचमचाती एक छोटी सी नौका
सुनामी के बाद के सागर तट
कोलतार में नहाया विशाल वटवृक्ष
दूर जंगल के खण्डहर में सरकती सांय सांय दोपहर!
मैं घबड़ाकर आँखें मींच लेता था
धड़धड़ाती धड़कनों को आश्वासन देकर
कि पिता जीवित हैं।
एक दिन-
जब पिता का देहांत हुआ
दिमाग सुन्न था
दिल काठ के खिलौने सा धड़कता रहा
आँखें पथराई पुतलियों सी फिरती रहीं
ओट होते सूरज के साथ जैसे
बीतता है दिन-
सब कुछ धीरे-धीरे बीत गया।
बीतते दिनों की नौक में
स्मृतियों की स्याही भर
लिखता रहा मैं, जाने क्या-क्या
कविता, कहानी और अनगिनत लेख!
पिता की शोक यात्रा को
मढ़ता रहा सजाता रहा अपने भीतर।
फिर एक दिन-
जब टॉक रहा था मैं

पिता की खुशी के टिकोले दुध मुँहे अधरों पर
माँ की ममता के चंदोवे घर के आंगन पर
स्मृतिशेष पिता
पुंजीभूत होकर घँस रहे थे मुझमें।
जैसे फूटती हैं किरणें और
निखरते हैं दिन
हृदय मोम सा मद्धिम आँच पर पिघल रहा था।
आँखें दमक रही थीं अभिषिक्त विल्व-पत्र सी।
फिर एक दिन-
अचानक ही हुआ
देहांत बड़े भाई का।
असीम पीड़ा से जर्जरीत कार्यालय की मेज पर
उनका चेहरा-
पथराई आँखें
निस्पंदित हृदय
कठिन काष्ठ सा शरीर
टूटे बाँध के ज्वार सा उमड़ आया था दुःख।
भाभी का करुण विलाप
बच्चों की शून्य दृष्टि
कैसी होगी यह दुनिया?
कैसी होगी सुबहें?
कैसी होंगी रातें?
कैसे बीतेंगे दिन?
गहन तम की चादर ओढ़े
आँखों में उतर आया था समूचा ब्रह्माण्ड
यह तो मैंने सोचा ही न था!
एक दिन-
जब भाभी ने पहना विधवा का लिबास
बच्चों ने अनाथ की शर्ट
और भविष्य ने ली प्रश्नवाचक दृष्टि
मुझमें कुछ होने लगा था खाली
पिता धीरे-धीरे उखड़ने लगे थे!!

अमानांतर चलती एक लड़की

रोज सबेरे
जब मैं सोकर उठती हूँ
मुझमें उठ जाती है एक समानांतर चलती लड़की।
जो हौले से कहती है—
'थोड़ी देर और भी सो सकती थी तुम।'
मैं दौड़कर रसोई में जाती हूँ
जूटे बर्तनों को धोते-धोते ही जब चूल्हे
पर एक के बाद एक पतीले-भगोने और कड़ाही का स्थान
परिवर्तन करती हूँ तो धीरे से कहती है—
'इसके लिए पीएच.डी. की जरूरत नहीं थी।'
किसी तरह आधे-तीहे घर के कामों को
समेट, मैं मांगती हूँ बस के लिए
शुक्र मनाती हूँ कि बस अभी छूटी नहीं थी
और मैं जाकर पीछे वाली सीट पर धम्म से बैठ जाती हूँ तो
उछल पड़ती है वह और उचककर
झाँकने लगती है खिड़की से।
कभी इस्स, कभी आह! कभी ओह! के बीच
फड़फड़ाती उसकी दुनियाँ बुनने लगती है
अनगिनत रंगों के बेतरतीब स्वेटर!
ओझल होते दृश्यों के साथ टूटती सलाइयों
से मायूस हो धीमें से कहती है—
'तुम भी बुन सकती हो हजारों सतरंगी सपने!'
ऑफिस की फाइलों में
जोड़-घटाव के तमाम दशमलव ठीक करती हूँ मैं
वह चुपके से बाँस के केबिन का दरवाजा सरका
सरक लेती है कैंटीन की कोने वाली टेबल पर
मजे से टेढ़े-मेढ़े कुरकुरे के बीच गर्म कॉफी का घूँट ले
गर्मजोशी से कहती है—
'तू भी तो पी सकती थी, एक कप कॉफी सुकून से।'
आज मैं लेट थी,
आज ही नहीं मैं तो अक्सर ही लेट होती हूँ
सही समय पर पूरी कहीं होती ही नहीं
बाँस की फटकार को आदतन
एक चिप की हँसी की ढाल पर रोक
कुछ कहना चाहती हूँ

पर नहीं जानती क्या? और क्यों?
काँच के शीशों पर बारिश की मोटी-मोटी बूँदें
दस्तक देती हैं
सोचती हूँ बालकनी में पड़े कपड़े भींग रहे होंगे
कि वह शीशे के उस पार भींगती लटों को
झटकते हुए मुस्कराती है
आसमान से गिरती बूँदों की टप-टप को
अपने गुलाबी गालों पर महसूसते हुए कहती है—
'तू भी तो कभी भींग सकती थी आषाढ़ में'
नीबू हरी-मिर्च और धनिया की पोटली सम्भाले मैं
बड़े-बड़े डग भरती फर्लांग जाती हूँ
कई किलोमीटर के रास्ते को
किसी तेज गति वाहन की भाँति।
भूख और प्यास की तपन सोखने लगती है
शरीर की ऊर्जा। नथुनों में भरने लगती है
तेले-भाजा, चाट, और फुचके की सुगंध
कानों में खटर-खटर डोसे वाले की आवाज
सबको नकारते ढकेलते
मैं चढ़ जाती हूँ अपने घर की सीढ़ियाँ।
मना कर देती है वह अंदर जाने से
उसे वहीं छोड़ मैं जुट जाती हूँ पुनः
अपने रोजमर्रा के कार्यों में
सोचते हुए कल हर हाल में ऑफिस
पहुँचना है समय से।
रात के रोज बारह बजे
जब मैं जाती हूँ बिस्तर पर
पहले झाँकती हूँ बच्चों को
बेटा वीडियो गेम, बेटी कॉमिक
और पति बगल में ही
टी.वी. के रिमोट में व्यस्त
मैं अपनी आँखों पर आँचल डाल रोशनी
को दूर कर सोना चाहती हूँ।
करवटें बदलते न जाने कब वह आकर
लिपट जाती है मुझसे और लाड़ से कहती है—
'थोड़ा अपने आप से भी तो प्यार कर सकती हो तुम।'

संपर्क : खुदीराम बोस सेन्ट्रल कॉलेज, कोलकाता-700006, मो. 9830094793

डॉ. कृपा शंकर शर्मा 'अचूक'

गीत

(1)

कहाँ खो गए चौका चूल्हे आओ फिर से बात करें
समय निकालो तो थोड़ा सा, सुबह शाम या रात करें
घर के आंगन बूढ़ी दादी
खाना रोज पकाती थी
सब सदस्य खा लेते खाना
फिर दादी माँ खाती थी
प्यार दुलार झलकता रहता, इसका क्या अनुपात करें
कहाँ खो गए चौका चूल्हे आओ फिर से बात करें
सौंथी सी सुगंध रोटी की
अनायास मन को भाती
माटी जब बन जाती चूल्हा
देख-देख कर मुस्काती
अभाव अभाव सभी सब सहते, बदले में सौगात करें
कहाँ खो गए चौका चूल्हे आओ फिर से बात करें
लोरी और कहानी सुनते
गोद नींद के हो जाते
परी देश सपनों में होते
खूब घूमते खो जाते
उठें तरंगे मन आंगन जो उनसे आज निजात करें
कहाँ खो गए चौका चूल्हे आओ फिर से बात करें
करवट लिया समय ने ऐसा
दूर कर दिया अपनों से
जीवन का 'अचूक' यह पौधा
रुका विकास पनपने से
सोच बदलनी होगी सबको व्यर्थ घात पर घात करें
कहाँ खो गए चौका चूल्हे आओ फिर से बात करें

(2)

गंध भरी मुस्कान मधुर ने, फागुन खबर सुनाई
संदल-संदल पवन बह रही, रितु मनुहारी आई
झिलमिल झिलमिल धूप बावरी
तन-मन फगुनाए है
चंदा सा दिनमान दीखता
बादल रंग छाए हैं
चलें मदन के वाण रसीले, अलक-पलक तरुणाई
गंध भरी मुस्कान मधुर ने, फागुन खबर सुनाई
हुई सुहागिन सांस-सांस है
चहुँ दिश सौरभ फैला
मस्ती ही मस्ती है छाई
बूढ़ा बालक छैला
पाथर-पाथर प्राण बोलते, प्रीति नई अपनाई
गंध भरी मुस्कान मधुर ने, फागुन खबर सुनाई
ठुमक ठुमक नाचें अब धरती
गगन हुआ सतरंगी
झांके जब घूँघट से बाला
भूल गयी सब तंगी
धड़कन मन की और बढ़ गई, कुछ ना पड़े दिखाई
गंध भरी मुस्कान मधुर ने, फागुन खबर सुनाई
झांझ मजीरें करतालों ने
ढफ का साथ निभाया
फूटे बोल अबोल सुहाने
पर्व मिलन का आया
मस्त 'अचूक' अनंग घूमता मिलें छोड़ चतुराई
गंध भरी मुस्कान मधुर ने, फागुन खबर सुनाई

(3)

चलने वाले कदम-कदम को, फूँक-फूँक रखते जाना
तुझको कुछ भी पता नहीं है, कितना है आबो-दाना
जब तक बजे साँस की मुरली
मुरलीघर कहलाएगा
गांठ-गांठ रसभरी निराली
सरगम गीत सुनाएगा
मस्त चाल में भूल गया तो, कुछ भी हाथ नहीं आना
चलने वाले कदम-कदम को, फूँक-फूँक रखते जाना
अपनी तो चिंता चल करके
जग चिंता बिसरा देना
सोचा समझा बस पहचाना
केवल तुझको ही लेना
अब तक भूल भुलैयाँ भूला, क्या खोना है क्या पाना
चलने वाले कदम-कदम को, फूँक-फूँक रखते जाना
आशाओं की बांध गठरिया
सिर पर बोझा लाद लिया
जिसने सब कुछ देकर भेजा
कब-कब उसको याद किया
सार असार जगत को कहता, बिखर जाय ताना-बाना
चलने वाले कदम-कदम को, फूँक-फूँक रखते जाना
जो 'अचूक' नित पल-पल रहता
वह असंख्य आँखों वाला
अंधकार कब रुक है पाता
जहां सर्वदा उजियाला
कर तैयारी अब चलने की, प्रीतम भेजा फरमाना
चलने वाले कदम-कदम को, फूँक-फूँक रखते जाना

(4)

साँझ ढले सूरज मन अपने अनबन सा चलता जाए
तोड़ सके सब मौन साधना, जो-जो इस पथ में आए
तन की तपन बढ़ी भी इतनी
सागर भी शीतलता हारा
छोड़ सका कब यह सदियों से
अब तक खारे का खारा
सदियों साथ भ्रमण नित करता, अपनापन नहीं अपनाए
तोड़ सके सब मौन साधना, जो-जो इस पथ में आए
भावांजलि तो रही अधूरी
पुष्पांजलि रहने देते
अनगिन सपनों की समिधाएँ
आतप इनकी सह लेते
भोर प्रतीक्षालय से निकले, धीमें-धीमें शरमाएं
तोड़ सके सब मौन साधना, जो-जो इस पथ में आए
शासन अनुशासन किस पर हो
कुछ नहीं पता कोई
दुविधाओं की बसे नगरिया
अपनी परछाई खोई
सोम 'अचूक' पिया जिस जिसने, वह पीकर के लहराए
तोड़ सके सब मौन साधना, जो-जो इस पथ में आए

संपर्क : 38-ए, विजय नगर, कतारपुरा,
जयपुर- 302006, मो. 09983811506

“सोचा था कि कविताओं को कभी छपाऊँगा नहीं, कुछ तो ऐसा हो जो सिर्फ अपने लिए...जैसे बक्से में बड़ी हिफाजत से रखी चिट्ठियाँ जो उम्र बीतने के साथ-साथ और कीमती होती जाती है। इसलिए कभी इन कविताओं को संवारने-सजाने की जरूरत महसूस नहीं की। समय विशेष की कोई खास संवेदना, जो किसी खास तेवर की गवाह थी... सिर्फ मेरे लिए, बात परोसने की चीज नहीं थी। संवरने में वह संभवतः थोड़ा बेहतर कलाकृति तो बन सकती थी, लेकिन मेरी अपनी धरोहर न रह पाती।

“छपाऊँगा नहीं- यह तो था, पर छिपाऊँगा नहीं- यह भी था।”

“कहानी-उपन्यास जो मेरी विधाएँ हैं, वहाँ छिपाने के ज्यादा मौके होते हैं। नाम भी है ‘फिक्शन’, इसलिए कविता में सब कुछ लिखता रहा। वहाँ सीधे-सीधे अपनी बात कही जा सकती थी, डायरी भी इसीलिए पर जहाँ डायरी में विश्लेषण हो बैठता था, कविता में मैं अपनी भावनाएँ अक्षुण्ण रख पाता था। कविता का असली मिजाज भी शायद वही है। भावनाओं को छूना और उन्हें शब्द, शब्दजाल से कम से कम कलुषित किये बिना भाषा में उतरने देना।”

(एकमात्र कविता संग्रह ‘ओ प्रकृति-माँ’ की भूमिका से- जनवरी १९९५)

डॉ. अर्चना पांडे से जब वक्तव्य के साथ कविताओं की मांग की तो मैं उपर्युक्त उद्धरणों से बेहतर कुछ लिखने की न सोच सका। कविताएँ भी वही दे सकता हूँ जो ‘ओ प्रकृति माँ’ में हैं, चार उस संग्रह की एक अंतिम ‘साहित्य का श्रोता’ संग्रह के बाहर की, अप्रकाशित। इतना जोड़ दूँ कि कहानी-उपन्यास लगातार लिखते-लिखते फैलाने की आदत पड़ गयी, जबकि कविता मांग करती है समेटने वाली कला की। कविता लिखने की ललक अब भी कभी-कभी उठती है, तब लिख भी डालता हूँ, उन्हें सुधारना संवारना नहीं... जैसे पहले नहीं करता था। ललक...माने गिने-चुने शब्दों-शब्द भी वे जो उड़कर आपके पास आये और आपने उन्हें सादर बिठा लिया- ऐसे शब्दों में अपनी कसक उतार देना...यह हक अकारण उठती है, जो उपन्यास पर मेरी व्यस्तता दबा डालती है। यह भी हो सकता है कि भावनाएँ उतनी तीव्रता से न उठती हों अब।

बूढ़ा देवदार

बूढ़ा देवदार	बूढ़ी मेरी काया
एक तरफ़ तने पर	पर वह क्या
बड़ी एक खोह	जो किसी के काम न आया
जैसे कोई पुराना जख्म,	खड़ा हूँ मैं
डगाले सूखी	लिपटाए इस पेड़ को
ज्यों हड्डियाँ पुरानी	चिपटाए इस बेल को
थका-माँदा निकला मैं	खोह में बसेरा करते हैं पखेरू
तने से टिककर बैठ गया	तने का जो हिस्सा
और ली आँखें मूँद	साबुत है सामने की ओर
-‘तुम मेरे कौन	आ टिकते हैं तुम जैसे साँझ-भोर..
जिसने दी मुझे शरण	बूढ़ा हूँ, पर व्यर्थ नहीं।
पास बैठाया	इसलिए देखते हो
यों टिकाया?’	ऊपर की मेरी सूखी डगाल
‘मैं क्या	अब हरी हो आई है।

साहित्य का श्रोता

खुद को प्रकट करने
कह डालने की लालसा...
पर प्रकट करने, कहने के बीच
स्वयं को छिपाये रहने की ज़दोजहद भी।
हर पल इनकी लुका छिपी का खेल
दूर-दूर पर पास-पास
आधी बखरी में चाँदनी की उजास
पेड़ पर आधी धूप, आधी छांव।
साहित्य का श्रोता
यहीं कहीं से फूटता है,
शायद।

देवदार बन

नीचे देवदार
ऊपर देवदार
जैसे दुगुने-तिगुने लम्बे देवदार।
बीच टँगी पगडंडी
जिस पर चलता एक मनुष्य!
नीचे ऊँचाई
ऊपर ऊँचाई
पहाड़ की ऊँचाई
देवदार की ऊँचाई
ऊँचाई ही ऊँचाई...
मैं कितना छोटा हो गया!
ऐसे भव्य मार्ग से पहले नहीं गुजरा-
सूर्य की किरणें यहाँ
लुके-छिपे आती हैं
वायु संगीत को ओढ़कर निकलती हैं
धरती सुगंध में नहा-नहा उठती है
ओ पूर्वकाल के तपस्वियों
आँधी-तूफान को वर्षों से झेलते
तुम यों सीधे खड़े हो
तुम्हारे वंशज हम
ऐसे कैसे हो गए
कि रीढ़ की हड्डी ही नहीं है
हम शापित
हमारा युग शापित
अपनी पीठ में आग
हम स्वयं लगाते हैं
जिसे बुझाने फिर
कहाँ-कहाँ जाते हैं!
तुम यों ही तने खड़े रहना
क्योंकि तुम...
तुम अंतिम आशा हो
शापित मनुष्य के बचने की।

अबन्त कहाँ?

सूखे पत्तों का पीला चूर
पिसी हल्दी-सा ज़मीन पर बिखरा...
सुनहरे किसलय पेड़ों पर
दूर से मुस्कराते, टुकटुक...
आमों की बौर, झौर-झौर
हरी, पीली, गेहुँआ, लाल...
क्या वसंत यहाँ?
आकाश में बहती लकीर
उड़ते पक्षियों की,
तोतों, कोयलों की किलकिल...
पेड़ों में ढूँढ़ने रुकता हूँ मैं
चौक, चुप हो जाते हैं वे
'पागल है!
चलता क्यों नहीं जाता अपनी राह,
पूछता है ऊल-जलूल सवाल-
कहाँ तुम
कलरव क्यों
दौड़ किस ओर,
कहाँ है छोर?
कहीं नहीं,
बस यहीं,
करना वो
जो हुमस हो,
आकाश छत,
जमीन घर,
राह वह
जो सामने,
साथ जो
साथी वो,
हम जहाँ
वसंत वहाँ।'

पैसे वाले झैलानी

पैसे वाले सैलानी
कचर-कचर खाते हैं
चक-चकर बोलते हैं
खाते हैं या बोलते हैं
बोलते हैं या खाते हैं
जितना बोलते हैं
उतना खाते हैं
जितना खाते हैं
उतना बोलते हैं
पीते हैं, चिल्लाते हैं
नहीं तो टी.वी., म्यूजिक
जोर से चलाते हैं...
इसी के लिए
इतनी दूर आते हैं
शांति और स्वच्छता के दुश्मन ये...
कोई शांत सुंदर जगह नज़र आयी
दौड़ाने लगे कारें
चालू
भीड़ की चाँय चाँय
हर जगह झाँय झाँय
म्यूजिक की भाँय भाँय
जहाँ होती थी कभी साँय साँय।
फिकने लगे टिन के डिब्बे
खाली बोतलें
पोलिथिन के थैले
सुंदर जगह को भी वे
चंद सालों में बना देंगे
कूड़ाघर
जो झील कल तक थी लबालब
तेजी से सूखने लगी है अब।

शांतिलाल की हवाबोरी सिद्धेश

शांतिलाल बैठे हैं अपने कमरे के बरामदे में। आठ साल पहले यह फ्लैट खरीदा था, लगभग सस्ते दामों में। अब तो इसका दाम दुगना हो गया होगा।

रोज अखबारों में नये-नये फ्लैटों की फेहरिस्त छपती है, विज्ञापनों में। पच्चीस-तीस लाख से कम के क्या होंगे। साठ-सत्तर लाख के भी हैं, जिसे खरीदने वाले भी मिल ही जाते हैं। कभी-कभी शांतिलाल सोचते हैं कि लोगों के पास इतने पैसे भी आ ही गये हैं, नये-नये डिजाइन के मकान, स्वीमिंग पुल, प्लेग्राउंड, जिम की सुविधा वाले हॉल, चारों तरफ हरियाली ही हरियाली। प्रत्येक के पास एक-एक दो-दो कार तो होती ही है। शहर से दूरी होते हुए भी कोई परवाह नहीं। गाड़ी है, सदर्द से निकल जायेंगे। बाजार जाने के लिए तो बाईक है ही अलग से।

शांतिलाल ने जब अपना पुराना मकान बेचकर शहर के एक कोने वाले इलाका में आये थे, तब बाजार, पोस्टऑफिस, बैंक आदि की खोज-खबर लेकर आए थे। सभी नजदीक हैं। पैदल चलकर जाया जा सकता है। पास में गुमटी है। रिक्शा की कतार में लगी होती है। अब उसका भी भाड़ा दुगना हो गया है। परिवर्तन होना वाजिब है। सरकार नौकरीशुदा लोगों के पैसे बढ़ा दिये हैं। सरकार के नुमाइंदों के लिए तो पौ-बारह है। राजनीति में आये हुए नेताओं को मुफ्त में गाड़ी, बंगला, टेलीफोन, हवाईजहाज के खर्चे अलग से मिलते हैं, तिस पर लगभग दो लाख की माहवारी। विश्व बैंक में करोड़ों का माल छिपा रखा है। काला धन!

– यह सब सोच-सोचकर शांतिलाल दुबले होते रहते हैं।

शांतिलाल सुबह उठकर सीधे बरामदे में रखी फाइबर की बनी हल्की कुर्सी पर बैठ गये। बरामदे की तरफ सटे हुए पार्क की तरफ नजर गयी। कोई केले के हरे पत्ते को काट रहा था। शायद उसके घर में भोज होगा। केले के पत्तों पर भोजन परोसा जाएगा। यह सोचकर उसका मन मसोस कर रह गया। अपने पुराने मकान में नीम का पेड़, नारियल के पेड़ लगा रखे थे। खूब छककर डाब का पानी पीते थे। नीम की नाजुक पत्तियों का भोजन में इस्तेमाल करते थे। पड़ोस के लोग नीम की पत्तियाँ तोड़कर ले जाते थे। कभी किसी को

उन्होंने मना नहीं किया।

यह पार्क तो सबका है। जिसकी जो मर्जी हो, तोड़कर ले जाता है। पुराने मकान के बरामदे में बेंत की कुर्सी पर अपने अंतिम समय में जिस तरह पिताजी चुपचाप, गुमशुम बैठे रहते थे। शांतिलाल उसी भंगिमा में बैठे रहे। किसी को आवाज नहीं दी और न बुलाया। धूप तेज हो गयी थी। सूर्य आसमान पर चढ़ने लगा था।

पत्नी शीला ने भीतर से आवाज लगायी, “समय का कुछ ख्याल है? या यूँ ही बैठे रहोगे?” घूमकर देखा तो शीला कप में चाय लिए खड़ी थी। उन्होंने उठकर कप-प्याली थामकर भीतर बैठने की बेमन से कोशिश की।

‘आज कहीं जाना नहीं है?’

‘नहीं। कहाँ जाऊंगा? यहाँ तो कोई अड्डेबाजी में शामिल होता नहीं। सब अपने-अपने कामों में मशगूल हैं। सोचता हूँ, कल शाम को निकलूँगा।’

‘कहाँ जाना है?’

‘बस, ऐसे ही दोस्तों से मिले हुए बहुत दिन हो गये। बुला लूँगा चौरंगी की तरफ।’

‘कैसे जाओगे?’

‘बस से। टैक्सी के पैसे नहीं हैं।’

शांतिलाल कहने को तो कह गये, फिर यह भी सोचने लगे। बस पर चढ़ पाएँगे? उतरना भी तो है ठीक जगह। पैर साथ नहीं देता। अपने पुराने मकान में जहाँ थे। चल-फिर लेते थे। नजदीक ही हरिहर की चाय की दुकान थी। गप्प-शप के लिए मोहल्ले के लोग जुट जाते थे। समय निकल जाता था। हवाखोरी भी हो जाती थी।

पार्क के कोने में एक जगह कवि जीवनानन्द दाश की प्रतिमा (स्टैचू) है, जिस पर पानी, कड़ी धूप, ओस की बूँदें पड़ी रहती हैं। शांतिलाल बरामदे में बैठकर ताकते रहते थे। कभी-कभी कोई चिड़िया सिर पर आकर बैठ जाती, सुस्ताती। वे अपलक ताकते रहते। जब तक स्टैचू पर बैठी चिड़िया पंख फैलाकर उड़ नहीं जाती। पार्क में अंधेरा छा गया था। भारत दो-तीन लेंप पोस्ट से मद्धिम रोशनी फैल रही थी। आराम कुर्सी से उठकर शांतिलाल अंदर कमरे में आ गये। भीतर पार्क की रौशनी का एक टुकड़ा छनकर आ रहा था। बरामदे से लगे

फूल की डालियों पर नजर डाली। महान और ताजे पत्ते चकमक कर रहे थे। लगा जैसे डालियों से लगकर जुगनू उड़ रहे हों। उन्होंने हाथ बढ़ाकर छूने की कोशिश की। तभी शीला कमरे से निकल आयी। बोली, ‘यह क्या कर रहे हो? गिर पड़ोगे।’

शांति सहमकर अलग हट गये।

सच में वे गिर पड़ते। वे अस्वस्थ थे। दो-दो बार अस्पताल में भर्ती हुए। दोनों बार दस-बारह दिन के लिए बेड पर पड़े रहे। पड़े-पड़े सोचते, उम्र बढ़ने के साथ किस तरह बीमारी की चपेट में आ गये हैं। अब चाहते हुए भी कहीं आने-जाने में दस बार सोचना पड़ता है।

पुराना मकान जिस कस्बे में रच-रच कर बीस सालों में बनाया था। वह व्यर्थ गया। वह मकान दो मंजिला था। चार कमरे, लंबी चौड़ी छत थी। फूल के पौधे थे। बाहर थोड़ी-सी खाली जमीन पर नारियल, केले, अमरूद के पेड़ लगाये थे। पिताजी ने नीम का नन्हा पौधा रोपा था, जो मकान बेचने और छोड़ने के पहले विशाल पेड़ बन चुका था। थोड़ी दूर पर विशाल मैदान था। वहाँ वे सुबह-शाम टहला करते थे।

अस्पताल से लौटने के बाद मकान बेचकर शहर में आ जाना पड़ा, क्योंकि उन्हें डाक्टर के पास चेकिंग कराने के लिए प्रत्येक छह महीने में आना पड़ता था। दूर होने के कारण आने-जाने में दिक्कत थी। दिन पर दिन वे लाचार थे, अपने गिरते स्वास्थ्य के कारण। अतः कम दामों में मकान बेच देना पड़ा। कभी-कभी सारा मंजर आँखों के सामने आ जाता है। वही आदत अब उनके चलने-फिरने में बाधक बनकर उनके सामने खड़ी थी।

शांतिलाल ने पुकारा, ‘कहाँ हो?’

‘क्या हुआ, चिल्ला क्यों रहे हो? जाओ, बाहर आस पास थोड़ा घूम आओ। अच्छा लगेगा। तब से अंधेरे में बैठे शीला ने टोका।

वे चुपचाप चप्पल पहनकर बाहर निकल गये। यह भी बड़े शहर में एक छोटा-सा कस्बा ही था।

बहुत पहले यहाँ जंगल हुआ करता था। पिछले दस वर्षों में इस जगह की कायापलट हो गयी। बीसों नये-नये फ्लैट बन गये। जो बांग्लादेश से भागकर यहाँ आये थे। वे

अब रिफ्यूजी नहीं रहे। फ्लैटों के मालिक हो गये। आठ साल पहले जब शांतिलाल यहाँ फ्लैट खरीदकर रहने लगे थे। तब भी आसपास कई टूटे-फूटे जीर्ण दशा में मकान देखकर उन्हें कोफ्त हुई थी। कैसे लोग बसर कर रहे थे! अब वही जगह तोड़-फोड़कर छह मंजिला मकान में तब्दील हो गयी थी। फ्लैटों में रहने वाले उनके अलावा बाहर के बड़े ओहदेदार लोग भी भाड़े लेकर रहने लगे थे। कुछ ने खरीद लिये। खरीदने वालों में शांतिलाल भी शामिल हो गये। वे क्यों आते भला। अपना दो मंजिला मकान छोड़कर या बेचकर इस कस्बेनुमा शहर में आये अपनी बढ़ती उम्र और अस्वस्थता की वजह से। उनसे बहुत कुछ छिन गया था। उनका स्वास्थ्य। मन-मिजाज, घुमक्कड़ी, हवाखोरी, शांति!

पुराने मकान, पुराने लोग बहुत याद आते थे। कई बार तो इच्छा हुई कि वे वहाँ जाकर अपने बिके हुए मकान को देख आयें। पुराने अड्डे पर लोगों से मिल आयें। लेकिन देह और पैर की हालत ने जवाब दे दिया था।

“अब इस उम्र में वहाँ जाकर क्या करोगे? कई लोगों में कुछ दिवंगत हो गये हैं” शीला ने कहा।

‘तुम्हे कैसे पता?’

‘फोन पर चित्रा से बात होती है।’

‘पास वाले मकान में मंडल बाबू की क्या खबर है? उनके लड़के ने क्या किया, अपनी पत्नी को लौटा लाया या नहीं?’

‘वह तो खुद अपने बच्चे को छोड़कर भाग गयी थी। आये तो खुद आयेगी। कैसी माँ है?’ शीला ने बिफर कर कहा।

‘अच्छा, मेरे मकान के पीछे रहने वाले परिवार में एक बच्चा बीमार था।’

‘उसे बचाया नहीं जा सका। एक बच्ची है मुन्नी, वह काफी बड़ी हो गयी है।’ शीला आश्वस्त दिखी।

मकान बेचकर आते समय कितरह लोग विदाई में खड़े आँसू बहा रहे थे। शांतिलाल को सब याद है। वहाँ के पेड़-पौधे, फूलों के गुच्छों से भरी डालियाँ सभी मानो उदास खड़े थे। शांतिलाल को लगा था कि तीस-बत्तीस साल उनसे छूट रहा है। वे फिर कभी लौटकर वापस तो

आयेंगे नहीं। मोह-माया को झटककर एक बार सब पर नजर डाली थी फिर गाड़ी में बैठ गये थे। साथ में शीला थी, वह रो रही थी।

आठ साल हो गये पुरानी जगह से बिछड़े हुए। फिर कभी चाहकर भी नहीं गये शांतिलाल। अब तो पैर से लाचार थे, गठिया के मरीज से यहाँ हवाखोरी नहीं होती। शरीर भी साथ नहीं देता। अब कहीं जाने के लायक नहीं रहे।

पार्क की हरियाली और छोटा-सा बरामदा, यही उनके जीवन से जुड़ गया था। फिर भी उनका मन बाहर जाने के लिए छटपटा रहा था। सोचा, आज शाम को निकलकर दोस्तों से मिल आयेंगे। तफरीह भी हो जाएगी, और मन बहल जायेगा।

उन्होंने अपने एक मुँहलगे दोस्त को फोन करने के लिए रिसीवर उठाया।

‘हलो। हाँ मैं बोल रहा हूँ। कैसे हो? बहुत दिनों से मिला नहीं। आओगे? क्या हुआ, तबीयत ठीक नहीं है? मैं ठीक हूँ।’

स्वीकृति में उन्होंने अपना सिर हिलाया।

‘ठीक है, फिर मिलते हैं। अरे यार, मैं भी तो बीमार था, अब थोड़ा ठीक हूँ। क्या कहा, कैसे आऊँगा? देखता हूँ, टैक्सी के अतिरिक्त पैसे लग जायेंगे। यही ना देख लेता हूँ।’ शांतिलाल ने भरोसा दिया।

रिसीवर रखने के बाद उन्होंने ताजगी महसूस की, फिर सोचने लगे। कैसे आयेंगे फालतू के पैसे? शीला से पूछकर देखते हैं। शांतिलाल निश्चिंत होकर बैठे सोच में डूबे थे। शीला ने देखते ही पूछा, ‘किस सोच में पड़े हो?’

‘सोच रहा हूँ, आज शाम को निकलूँगा। बस का किराया है मेरे पास। टैक्सी कर लूँगा। कुछ रुपये दोगी?’

‘कितने?’

‘यही सौ-दो सौ।’

‘देखती हूँ। महीने के खर्चे से निकालना पड़ेगा।’

‘ठीक है, देख लो। नहीं होगा तो जैसे-तैसे बस से चला जाऊँगा।’

शीला सोच में पड़ गयी। पैसे तो निकल आयेंगे मगर

महीने के अंत में दाल-रोटी से काम चलाना पड़ेगा। बस से जाने पर कहीं गिर पड़े तो, अलग से आफत होगी।

दोपहर बीत रही थी। शीला ने दो सौ रुपये निकाल कर अलग रख लिये थे।

शांतिलाल को लग रहा था कि नाहक ही तफरीह के लिए अपनी तबीयत की परवाह न कर टैक्सी किराये के डेढ़-दो सौ रुपये हवा में झोंक रहे हैं।

शाम हो रही थी। वे तैयार हो गये थे। जाने के लिए पैर बढ़ाया ही था कि रुक गये और शीला की तरफ असहाय दृष्टि से देखा। वह रुपये लेकर खड़ी थी।

‘ये लो, पूरे दो सौ रुपये हैं।’

‘नहीं लूँगा। बस से जाऊँगा।’

‘पागल हो क्या? बस का क्या भरोसा। कहीं, चढ़ते-

उतरते गिर पड़े तो। इससे अच्छा है, टैक्सी से जाओ, ठीक जगह उतरोगे।’

‘नहीं जाऊँगा।’

‘अब क्या हुआ। दोस्त क्या सोचेंगे।’

‘कह दूँगा, हठात् तबीयत खराब हो गयी थी।’

‘झूठ बोलोगे?’

‘झूठ बोलने से उनका कोई नुकसान तो है नहीं हमारा भी नहीं है।’

‘नहीं, नहीं, जाओ। बार-बार थोड़े ही जाओगे?’

‘नहीं जाऊँगा, बस!’

शांतिलाल उसी तरह सजे-धजे बरामदे में आकर कुर्सी पर बैठ गये। शीला मन मानकर अंदर चली गयी। पार्क में तेज हवा बह रही थी।

संपर्क :

1/17, आदर्श पल्ली, पो.- रिजेन्ट एस्टेट
कोलकाता- 700092, मो. 09830859660

तुम वहीं का वहीं रह गया डॉ. राणा प्रताप

जब्वार हुसेन नियत समय से कुछ पहले अपनी सफेद एम्बास्डर कार से नीचे उतरे। ज़मीन पर पांव रखते ही उनकी नज़र जगदीश पर पड़ी। जगदीश गांधी मैदान में घास पर चादर बिछा अपनी किताब की दुकान लगाये बैठा था। जब्वार हुसेन सीधे जगदीश के पास पहुँचे। शिक्षा मंत्री को आते देख जगदीश उठकर खड़ा हो गया। दोनों हाथ जोड़कर उसने प्रणाम किया।

जब्वार हुसेन के मुँह से हठात् निकला, “क्या रे, जगदीश! तुम वहीं का वहीं रह गया।”

शिक्षा मंत्री के इस कथन को सुन जगदीश के दिल को भारी ठेस पहुँची। फिर उसने हिम्मत करके पूछा, “क्या किताब बेचना इतना खराब काम है सर?”

“मेरा मतलब यह नहीं था।”

“तब?”

“हमारे जेल के साथी कहाँ से कहाँ पहुँच गये और तुम....।”

“तुम वहीं का वहीं रह गया। यही न?”

“हाँ, बिल्कुल ठीक समझा।”

“लेकिन हमारे पास भी एक तमगा है सर! जिसे दिखाकर बड़प्पन की बात झाड़ सकते हैं।”

“कैसा तमगा?”

“स्वतंत्रता सेनानीवाला तमगा और...।”

जब्वार हुसेन जोर से हंसे! “जगदीश तुम्हारा माथा खराब हो गया है। इसीलिए तो मैं कह रहा था कि स्वतंत्रता सेनानी को इस तरह घास पर बैठकर पुस्तकें बेचना शोभा नहीं देता।”

“चोरी-डकैती के काम में लग जाता तो ठीक था?”

“लगता है, कम्युनिस्टों ने तुम्हारा दिमाग खराब कर दिया है।”

“पुस्तकों के जरिये समाज में उजाला फैलाना आपकी नज़र में दिमाग खराब करना है।”

“छोड़ो इन बातों को। पहले यह बताओ, घर में पत्नी-बच्चे कैसे सब कैसे हैं?”

“ठीक हैं।”

“कभी ऑफिस में आओ तो बैठकर बात करते हैं। अभी चलते हैं। मीटिंग का समय हो

रहा है।” इतना कहते हुए वे सभा-स्थल की ओर चले गये।

शाम को जगदीश घर लौटा। किताबों का कार्टून एक ओर रख सीधे चौकी पर जाकर लेट गया।

पत्नी नजदीक आयी। पूछा, “चाय बनाऊं?”

“पहले एक गिलास पानी।”

वह झट से पानी ले आयी। जगदीश एक ही सांस में पूरा गिलास खाली कर गया। पुनः चौकी पर लेट गया।

पत्नी ने पूछा, ‘लगता है, आज थकान कुछ ज्यादा हो गयी है।’

“हूँ 555।” एक लंबी हुंकारी। और चित लेटे-लेटे छत को निहारते रहे।”

थोड़ी देर बाद पत्नी जब चाय लेकर आयी। देखा, जगदीश वैसे ही लेटे-लेटे कुछ सोच रहा था।

उसने पूछा, “आज कोई बात हुई है क्या?”

“नहीं, कोई बात नहीं हुई।”

“किसी से झगड़ा-वगड़ा।”

“कहा न! कोई बात नहीं हुई है।”

“तब काहे इस तरह सोच में पड़े हुए हैं?”

“आज सभा स्थल पर शिक्षा मंत्री से भेंट हुई थी।”

“यह तो बड़ी अच्छी बात हुई। उनसे बातचीत भी हुई थी न?” उसने प्रसन्तापूर्वक पूछा।

“हाँ, बातचीत भी हुई थी। तुम लोगों का भी हालचाल पूछ रहे थे।”

यह सुनकर जगदीश की पत्नी निहाल हो उठी! लेकिन जगदीश के चेहरे का भाव वैसा का वैसा ही बना रहा।

“इसमें चिंता की कौन-सी बात है जो आप इतनी देर से मुँह लटकाये बैठे हैं।”

“उन्होंने बातचीत के लिए अपने ऑफिस में बुलाया है।”

“यह तो और अच्छी बात है। बात-बात में आप उनसे राजू के लिए डिस्क्रेशनरी ग्रांट के बारे में भी पूछ लेंगे।”

“हूँ 5 5 5!”

मन की बेचैनी तो कुछ और थी। उसके बारे में चाहकर भी वह पत्नी से बात नहीं कर सका।

अगले रोज सुबह-सवेरे वह मेरे घर पहुँचा। उसके हाथ में एक किताब थी। नाम था उसका ‘एक युगपुरुष

का जन्म।’

“लीजिए सर! आपकी किताब।”

“अच्छा किया जो किताब साथ लेते आये।”

“मैं कैसे भूल सकता था!”

“अच्छा, आओ। इधर बैठो। आज हमलोग साथ साथ चाय पीते हैं।”

जगदीश सोफे पर बैठ गया। मैं भी उसके सामने बैठ किताब के पन्ने उलटने-पुलटने लगा।

जगदीश चुपचाप बैठ तो गया था लेकिन उसके दिमाग में एक हलचल सी मची थी। कुछ पूछने के लिए वह बेचैन सा दिख रहा था।

“सर, एक बात पूछूँ?”

“पूछो, क्या पूछना चाहते हो?”

“किताब बेचने का काम अच्छा नहीं है सर!”

“किसी ने कुछ कह दिया है क्या?”

“नहीं सर!”

“नहीं, कैसे? मैं मान नहीं सकता! जरूर किसी ने तुमको कुछ कहा है।”

उसने बड़े संकोच के साथ बतलाया। कल शिक्षा मंत्री से भेंट हुई थी। उन्होंने मुझे देखते ही कहा, “क्या रे जगदीश! तुम वहीं का वहीं रह गया।”

“क्या मतलब?”

“मतलब यह कि किताब बेचना तुम्हें शोभा नहीं देता।”

“क्यों शोभा नहीं देता?”

“इसलिए के तुम स्वतंत्रता सेनानी हो।”

“स्वतंत्रता सेनानी का मतलब है कि पेंशन लो और घर में बैठकर कुढ़ते रहो, मरते रहो।”

“उन्होंने मुझे अपने ऑफिस में बुलाया है।”

“तुम्हें जरूर जाना चाहिए। आखिर वे तुम्हारे जेल के साथी हैं।”

“जेल के साथी थे सर! अब तो...”

“लगता है। तुम खुद अपने को छोटा समझते हो?”

“एक मैट्रिक पास लड़का और क्या समझेगा सर!”

“जन-जन के हाथों ज्ञान की पोथी पहुँचाना। कम बड़ी बात है। मैंने खुद कई बार पत्र-पत्रिकाओं का स्टॉल लगाया है।”

“आपकी बात दूसरी है सर!”

“दूसरी बात कैसे है? शंभू बाबा को तो तुम जानते हो? उन्होंने डाक बंगला चौराहे पर रीडर्स कॉर्नर नाम से दुकान खोल ली तो बड़े आदमी हो गए और जो जनता से सीधो रू-ब-रू हो रहा है, वह छोटा आदमी हो गया। मैं ऐसा नहीं मानता।”

“आपके मानने न मानने से क्या होता है सर! समाज का नजरिया तो ऐसा ही है।”

“इसी नजरिये को तो हमलोग बदलने के काम में लगे हैं।”

“मैं ही बुद्धू हूँ जो शिक्षामंत्री की बातों को दिल से लगा बैठा।

“अगली बार जब उनसे मिलो तो पूछना, शिक्षा की ज्योति जलाने की कोई योजना है उनके पास? इस योजना का डायरेक्टर तो तुम बन ही सकते हो।”

ऐसी बात सुनकर जगदीश को हँसी छूट गयी। वह खुलकर हँसा!

“आप भी मजाक करते हैं सर। आई.ए.एस. अफसर क्या मर गए हैं? जगदीश की खोज क्यों होगी?”

“क्या कहा था उस बौद्ध संन्यासी ने, पुस्तकों में सत्य का वास होता है।”

“छोड़िए इन बड़ी-बड़ी बातों का सर! आज आपके पास आकर मन काफी हल्का हो गया।”

“ठीक है। आज की बातचीत यहीं खत्म। मुझे कॉलेज जाने की तैयारी भी करनी है- और हाँ, शिक्षामंत्री से जरूर मिल लेना।”

जगदीश लौटकर घर आया तो देखा, कमरे में सुरेश भट्ट बैठा है।

“अरे यार! आज इधर कैसे?”

“आने के लिए मना है। भाभी के साथ बैठकर गप्पें मार रहा था और साथ में चाय भी पी रहा था।”

“यानी कि तुमने मेरे आने का इंतजार भी नहीं किया?”

“इंतजार मैं ही तो बैठा हूँ।”

“अच्छा, बताओ। कैसे आना हुआ?”

“दरअसल शास्त्री जी को एक किताब चाहिए थी।”

“कौन शास्त्री?”

“भोला पासवान शास्त्री।”

“कौन सी किताब?”

“राहुल जी वाली ‘वेल्ला से गंगा’।”

“हाँ, है हमारे पास।”

“दरअसल, उन्होंने कई लोगों से कह रखा था पर...।”

“पर बाजी तुम्हारे हाथ लगी। है न?”

इस पर दोनों खूब हँसे। देर तक हँसते रहे।

“ठहरो, किताब अभी ढूँढ़कर लाता हूँ।”

इसी बीच जगदीश की पत्नी कमरे में आयी और बोली, “भैया, आप ही समझाओ न उनको। मेरी तो बात ही नहीं सुनते।”

“क्या बात है? जरा समझाकर बोलो।”

“क्या समझाऊँ भैया। उनको तो कोई बात दिमागे में नहीं अंटता है। शिक्षामंत्री ने इनको बुलाया है तो कोई न कोई बात जरूर होगी।”

“ठहरो, मैं ही समझाता हूँ उसको।”

“जगदीश हाथ में किताब लिए कमरे में लौटा, “लोऽ, यही किताब है।”

“अरे, जगदीश! भाभी जी क्या कह रही है।”

“क्या?”

“यही कि शिक्षा मंत्री ने तुमको अपने कार्यालय में बुलाया है।”

“हाँ, बुलाया तो है।”

“तो इसमें सोचना क्या है? चलो, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ।”

“किसी दिन मिल लूँगा भाई।”

“यार! तुम भी बड़े संकोची हो।”

“तुम इसकी चिंता मत करो। जाओ, पहले अपना काम करो।

“ठीक है भाई। ठीक है।

कई सुबहों के बाद आज की सुबह जगदीश कुछ तारोताजा महसूस कर रहा था। चाय पीने और अखबार देखने के बाद उसने पत्नी से कहा, आज मंत्री जी से मिल ही लेता हूँ।”

“देखो जी, मैं कहे देती हूँ ग्रांट वाली बात मत भूलना।”

“अच्छा, नहीं भूलूँगा।”

“कुर्ता-पायजामा आज उसने साफ धुले हुए निकाले थे। वैसे दुबला-पतला शरीर और औसत कद कुछ और ही बयां करता है। फिर भी वह ठीक-ठाक लग रहा था।

मंत्री जी का आवास उसका जाना-पहचाना था। उसने सीधे गेट के अंदर प्रवेश किया। मंत्री जी कैपस में ही कुर्सी डाले बैठे थे। उनके चारों ओर कुर्सियों का गोल घेरा लगा था जिन पर मिलने-जुलने वाले लोग पहले से ही काबिज थे।

मंत्री जी ने दूर से ही जगदीश को आते हुए देख लिया। उन्होंने खुद उठकर जगदीश का स्वागत किया और अपने साथ लिये ऑफिस वाले कमरे में चले गए।

मंत्री जी ने पूछा, “अच्छा, जगदीश! यह बताओ, घर में सब लोग कैसे हैं?”

“सब लोग ठीक हैं।”

“और तुम्हारे किताबों वाला धंधा कैसा चल रहा है?”

“वह भी ठीक-ठाक चल रहा है।”

“वैसे उसमें एक खतरा है।”

“कैसा खतरा?”

“सरकार के पास विजिलेंस की रिपोर्ट है। उसमें साफ लिखा है कि तुम नक्सल साहित्य बेचते हो। मैं एक दोस्त की हैसियत से पूछ रहा हूँ क्या यह सच है?”

“नहीं, यह सच नहीं है।”

“देखो, जगदीश। कम से कम तुम मुझसे झूठ मत बोलना। मैं तुम्हारा शुभचिंतक हूँ, दुश्मन नहीं। किसी भी दिन तुम्हारे घर का रेड हो सकता है।”

“बहुत-बहुत शुक्रिया जब्बार साहब! मगर खुदा कसम किताब का धंधा बंद करने के लिए मत कहियेगा।”

“जब मोहम्मद साहब ने खुद कहा है कि “खून से बढ़कर स्याही को समझना” तो मैं कौन होता हूँ जो किताब के धंधे को बंद करने की सलाह दूँगा। यह तो रौशन राह का वह चिराग है जिसे हमेशा जलते रहना चाहिए।

जब्बार साहब की बातों से जगदीश के दिल को बड़ी तसल्ली मिली। वह हंसा और मुस्कराया भी! मगर दिल पर पड़ा पत्थर टस से मस नहीं हो सका- ‘क्या रे, जगदीश! तुम वहीं का वहीं रह गया!’

संपर्क :

बंगाली कॉलोनी, पो. बेगमपुर,
पटना- 800009, मो. 9234763168

तपन जिंदा है

आनंद सिन्हा

आज डेढ़ वर्षों के पश्चात् वह बाहरी दुनियाँ को पाने वाला था, सुबह ग्यारह बजे के लगभग उसका भाई दमदम जेल आया था। उसी से वह जान पाया था कि कल हाईकोर्ट ने उसकी जमानत मंजूर कर ली है और आज वार्ड पर दस्तखत करने के बाद शाम तक उसका रिलीज आर्डर आ जायेगा।

आज के पहले- कल तक भी उसे यही एक खबर कितना उल्लासित कर सकती थी। परन्तु आज गत रात की एक घटना का अहसास लिए जैसे वह भाव शून्य सा हो गया है। केवल एक सनसनाहट सी रह-रह कर उसकी नसों में दौड़ने लगती है और फिर गोली दगने की कई-कई आवाजें उसकी कनपटियों को छलनी कर जाती हैं। तब उसे एक साथ कई अक्ष अपनी ओर खींचते हैं और खींचते ही चले जाते हैं... तो क्या वह अपने को इस एहसास से मुक्त कर पायेगा ?

सुबह आये भाई के आशान्वित चेहरे को उसने सींखचें के पार से देखा था, माँ की होने वाली खुशी से वह अपरिचित नहीं था! माँ! बेचारी माँ! काश वह उसे कुछ दे सकता। यही सब सोचते-सोचते घनघोर अन्तर्मन्थन में डूब जाता है। उसकी समस्त चेतना एक निर्णय लेने को व्याकुल हो उठती है किन्तु बार-बार कुछ भावाकुल चित्र उसके मन को अवश कर देते हैं।

उसके जेल में लाये जाने पर माँ मिलने आई थी और रो-रो कर अपने अरमानों को दुहराया था- 'बेटा तुम्हारा एल.एल.बी. का आखिरी साल था। सोचा था पढ़-लिख कर बड़े वकील बनोगे पर न जाने कैसे किनकी संगत में पड़ कर तुमने अपनी जिंदगी बर्बाद कर ली।' माँ के आँसू उसे विचलित कर रहे थे। वह गुमसुम सोच रहा था काश उसके पास भी नुस्खा होता जिन्दगी बनाने का। और वह खुद को माँ के अरमानों के अनुकूल ढाल पाता।

उन दिनों भैया के ठठरी शरीर पर रखा चेहरा चिंताओं की अनेक आड़ी तिरछी रेखाओं से भर उठा था। उनकी परेशानियों से स्वयं वह अनभिज्ञ नहीं था। मीसा में गिरफ्तार भाई के लिए हाईकोर्ट में केस का बोझ उठाना उनकी ममता उनके खून की मजबूरी थी अन्यथा कठिन परिश्रम से कमाये जाने वाले दो सौ रुपये में और क्या सोचा जा सकता था। माँ ने ही उस दिन बताया था घर के सारे बर्तन और भाभी के बच्चे खुचे एकाध गहने बेचकर पाँच सौ रुपये की रकम इकट्ठी हो पाई है, जो उसकी रिहाई के लिए जुटाया है।

दारुण त्रास के बीच बार-बार अभाव और ममता की मिली-जुली तस्वीरें आँखों में तैर जातीं। मन का हर कोना भींग उठता। उसी के लिए तो भैया दिन भर इधर-उधर डोलते हैं।

कहीं से कर्ज मिल जाये या हजार-डेढ़ हजार जमा कर सकते तो मुक्तू को छुड़ा लेते। माँ घुल-घुल कर बची हुई जिंदगी आधी कर रही है। भाभी और छोटी बहन की हर उमंग अभी से दफन हो गयी है। जहाँ हाथ से मुँह तक का जुगाड़ ही जिंदगी का मतलब हो वहाँ उसने एक और परेशानी खड़ी कर दी है। स्वयं को असुरक्षित कर उसने उन सबको असुरक्षित बना दिया है जिनकी ममता ने सींच सींच कर उसके जीवन को खड़ा किया है। यही सब सोचते-सोचते उसके मन में ऐंठन सी होने लगती और हठात् ही मस्तिष्क में जैसे कोई रक्त का फौव्वारा सा फूट पड़ता, कारावास- मीसा-दण्ड- किसलिए? क्यों?? अपराध? कैसा अपराध?? बड़ी देर तक सोच-सोच कर भी जब कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता तो वह बड़ा असहाय हो उठता। एक शब्द हथौड़े की तरह उसके अंतर को पीटता रहता प्रजातंत्र! प्रजातंत्र!!

आँखों के सामने वह चित्र बार-बार घूम जाता है। उस दिन जब छात्र-बंधुओं के गिरफ्तारी के प्रतिवाद में उनकी रिहाई की मांग करते हुए मुहम्मद अली पार्क से एक जुलूस निकला था जिसमें वह स्वयं भी शामिल था, शायद 'मीसा' में डाल दिये जाने के लिए यही अपराध पर्याप्त था। उसने कानून की किताबों में मौलिक अधिकारों की बात पढ़ी थी पर इन सीखचों में बंद होने के बाद न्याय और कानून की हर कड़ी खंड विखंड होती मिली, सिवाय पीड़ा, त्रास और हताशा के कहीं कुछ नहीं है- उसे ऐसा महसूस होता।

उसका साहस, धीरज और विश्वास सब एक-एक कर चूक रहा था। एक दिन मिलने आई हुई रोती कलपती माँ को फटकारा भी था। तुम लोग क्यों मेरे लिए कष्ट झेल रहे हो, मैं यहाँ ठीक हूँ। मैंने कोई अपराध नहीं किया बस न्याय की मांग की है। पर, दूसरे ही क्षण उसका मन अतिरिक्त दुर्बल पड़ रहा था, उसका जी कर रहा था कि बुक्का मार कर रो पड़े।

इसी तरह उसका मन निरंतर उठते अवसाद में भीगता चला जा रहा था! माँ, भाई, भाभी और बहन की करुण मूर्ति बार-बार मन को मथ जाती सारे चित्र जो उसके मानस पर उभरते थे, पीड़ा और संताप से बने थे।

वह ही उन सब की आशाओं का आधार था। पर-पर वह तो स्वयं को कहीं भीड़ में खोया हुआ पा रहा था। दबाव सहते-सहते जैसे किसी उफनती नदी पर का बाँध हहरा कर टूट जाता है। मुक्तांचल उसी तरह से फूट पड़ा और उसकी हिचकियाँ बँध गई। इतने में ही तपन राय उसके पास आया, वह स्वयं राजनीतिशास्त्र में एम.ए. फस्ट क्लास करने के बाद शोध कार्य कर रहा था। जेल में आने के बाद शीघ्र ही उन दोनों में मित्रता हो गई थी, उसकी दशा देखकर तपन ने कहा, “यह क्या मुक्तांचल बस इतने ही दुःख से छटपटाने लगे? एक शोषण विहीन समाज के लिए व्यवस्था का अत्याचार सहना ही पड़ता है। वगैर तकलीफ के संघर्ष करने की शक्ति कहाँ आयेगी और संघर्ष किये बिना हम जो चाहते हैं वह हो नहीं सकता।

मुक्तांचल तब भावुकता के चरम बिंदु पर था, इसलिए उसे तपन का तर्क अच्छा नहीं लगा, उसने कहा- “शारीरिक यातना और अत्याचार सहने से मैं नहीं घबरता, किंतु उन रिश्तों के टिसो को मैं कैसे भूल जाऊँ जो मेरे लिए ही निरंतर अन्याय और अत्याचार में पिस रहे हैं। जिन्होंने अभाव और विपत्तियों के सिवा कभी कुछ नहीं जाना, कभी कुछ मुझसे नहीं पाया।

तपन कुछ गंभीर होकर बोला “किंतु जो तुम्हारे सुख के लिए अपने को मिटाने को तत्पर है वे थोड़े ही होंगे, केवल तुम्हारे परिवार के लोग भर ही, पर तुम ऐसे बहुत सारे लोगों को तैयार कर लो जो अपने को मिटाकर जन जीवन के लिए सुख की बगिया हरी कर सकें, फिर तो उन रिश्तों की टीसों टीसों नहीं रह जायेंगी बल्कि विशाल जन समन्दर में उठी आनंद की तरंगें प्रतीत होगी।”

वह अवाक् रह गया था तपन की इस दलील पर उस दिन तपन ने उसके बौद्धिक चिंतन में एक बीज रोप दिया था।

दिन पर दिन बीतने लगे, मुक्तांचल और तपन की मैत्री गहरी होती गई। तपन एक जनसभा में भाषण देते हुए पकड़ा गया था। उसने अपने भाषण में व्यवस्था की कड़ी आलोचना की थी तथा संसदीय शासन प्रणाली पर भर्त्सना युक्त प्रहार किया था, उस देश में जहाँ संविधान की किताबों में अपने-अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता है

वहीं की सुरक्षा पुलिस द्वारा तपन को गिरफ्तार कर लिया गया था। उस पर हत्या, आगजनी और बमबाजी के आरोप लगाये गये थे। सोचने की बात तो यह थी कि जब पढ़े-लिखे लोगों पर व्यवस्था इतनी जुल्म कर लेती है, तो फिर खेतिहर मजदूर और ग्रामीण किसानों की क्या हालत होगी। वे तो शायद यह मान बैठे होंगे कि डन्डों से पीटे जाना हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और उनसे मार खाना हमारे कर्तव्य का एक अंग।

तपन मीसा के बन्धियों को इकट्ठा कर व्यवस्था के अन्याय और अत्याचार के खिलाफ खूब बोलता था, उसकी बातें सभी ध्यान से सुनने लगे थे। पाँच-छः अन्य भी ऐसे थे जो अपने विचारों को रखते थे। इस तरह एक छोटी सी गोष्ठी ही हो जाया करती थी, इस तरह से बंधियों में एक गहरी सामाजिक राजनीतिक चेतना घर करती जा रही थी।

मुक्तांचल अपने साथियों के साथ दिन ब दिन बढ़ती हुई जेल जीवन यातनाओं को झेलता जा रहा था, आये दिन उन्हें उल्टा टांग कर कोरे लगाये जाते थे। हाथ पाँव के नाखून कीलों से छलनी कर डाले गये थे। उसने बचपन में एक कैलेण्डर पर अंकित नारकीय यातना के विभिन्न दृश्य देखे थे। ठीक वैसा ही कुछ वह अपने ऊपर घटित होता पा रहा था। शरीर की दुर्बलता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी, मन में प्रतिकार की आँच भी उतनी ही तीव्र होती जा रही थी। उसने भी निश्चय कर लिया था कि जेल से निकलकर वह इस व्यवस्था को पलट देगा। जो अपनी जड़ जमाये रखने के लिए निरन्तर जन-जीवन का रस चूस रही है।

परंतु जेल के दौरान जब भी घर के लोग आते उसका निश्चय थरथराने लगता। उनके दुःख बाँट न पाने की गहरी निराशा उसे पीड़ा के दोहरे धार में उतारने लगती।

तब आयी थी एक दिन वह रात उसके जेल से छूटने के एक दिन पहले की रात! उस दिन रात के बारह बजे सभी बंदी सो रहे थे, गहरा सन्नाटा छाया हुआ था। मुक्तांचल के ताजे चोट बहुत दुःख रहे थे अतः बेचैनी में नींद नहीं आ रही थी। तभी कुछ वार्डरों के साथ पाँच-छः सी.आर.पी. के लोग वार्ड के अंदर प्रविष्ट हुए तपन और

पाँच अन्य साथी गहरी नींद में सो रहे थे। उन्हें जगाया और कहा कि चलो तुम लोगों को अभी जेल सुपरिन्टेण्डेंट के पास चलना होगा!”

मुक्तांचल भी न जाने किस अज्ञात प्रेरणा से बिस्तर से उठकर धीरे-धीरे रेंगते हुए वार्ड के गेट के बाहर आ गया। उस समय सी.आर.पी. के लोग तपन और पाँच साथियों को शिनाख्त करने में व्यस्त थे। वह चुपचाप जेल के अहाते के दक्षिणी दीवार के पास वाले बाथरूम में घुसकर बैठ गया। सी.आर.पी. वाले तपन और उसके साथियों को दक्षिण दीवार की तरफ लिये जा रहे थे। उन्होंने बंधियों को दीवार के पास रुक कर मुड़ जाने के लिए कहा। मुक्तांचल दम साधे बाथरूम में दुबका हुआ था। दरवाजे की दरार से वह तपन तथा उसके साथियों को स्पष्ट देख पा रहा था। घूम जाने का आदेश फिर गूँजा परंतु तपन तथा उसके साथी किसी गहरी आशंका से निस्पन्द अचल खड़े रहे। सी.आर.पी. वालों ने अब अपने हाथों में बंदूक तान ली थी। आवाज कड़की घूम जाओ नहीं तो गोली मार देंगे। तपन और उसके साथी दीवार की ओर मुँह किये खड़े हो गये। अचानक फायरिंग शुरू हो गयी तथा वातावरण की स्तब्धता खण्ड-खण्ड होकर चीत्कार कर उठी, परंतु कुछ पल के पश्चात् फिर वही निस्तब्धता छा गयी, केवल बूटों की आवाज और कोई विद्रूप भरा स्वर टकरा कर खो जाता ‘सब सालो को भून डालो।’

मुक्तांचल सन्न रह गया था, धीरे-धीरे आहत होता हुआ वह लाशों के पास पहुँचा। चारों तरफ लहू का ढेर था, उसने एक एक शरीर को छूकर देखा सब निस्पन्द थे। सब की पीठ में गोली लगी थी। उस समय तपन के शरीर में कुछ हरकत हुई, वह तपन के पास पहुँचकर उसके सर पर हाथ रखा। उसका शरीर ऐंठ गया था। वह फुसफुसाया- ‘मैं मुक्तांचल हूँ।’ तपन की आँखें उसे निहारने लगीं जैसे चेतना को वापस लाने की चेष्टा कर रही हो। अस्फुट स्वर निकला पाऽऽनी। मुक्तांचल बाथरूम के डब्बे से पानी लाकर कुछ बूँदें उसके मुँह में डालने की चेष्टा की। तपन कुछ बोलने का प्रयत्न कर रहा था। वह सतर्क हो गया। तपन के अस्पष्ट बोलो से प्रकट हुआ एक वाक्य- “मेरी माँ से कहना मैं जिंदा हूँ”- धि....धि....धि

करके तपन ने दम तोड़ दिया।

सुबह जब लाशों की गिनती हो रही थी तब सभी कैदियों को जेल अधिकारी बता रहे थे कि कल रात छः लोग जेल से भागने की चेष्टा में बाड़ों पर बम फेंक रहे थे तभी आत्म रक्षा के लिए उन्होंने इन पर गोली चलाई।

मुक्तांचल खोया-खोया ठगा सा इन सब बातों को सुनता रहा था। शाम को पाँच-छः बजे उसका रिलीज आर्डर आ गया था। माँ, भैया, भाभी और अंजू उसे लेने आये थे। परंतु उसके चेहरे पर आज एक पत्थर सी कठोरता थी। वह दृढ़ था, उसने निर्णय ले लिया था।

वह जेल से बाहर निकला तो काफी भीड़ थी। आशंका और कुतूहल से घिरे अनेक चेहरे उसे दिखाई पड़े। उन सब में केवल मुक्तांचल के परिवार के लोग ही खुश और निश्चित दिखाई पर रहे थे। अन्य सभी लोग तो यह जिज्ञासा लेकर आये थे कि बंदियों में कहीं उनके लोग तो नहीं मारे गये हैं। जेल अधिकारियों ने उस दिन कैदियों से मिलने पर प्रतिबंध लगा दिया था, वे मरे हुए कैदियों का नाम भी नहीं बता रहे थे।

मुक्तांचल को निकलते ही बहुत सारे लोगों ने घेर लिया। सभी अपने संबंधियों के जीवित होने का प्रमाण-पत्र उससे मांग रहे थे।

उसकी माँ ने उसका हाथ पकड़कर चूम लिया

और रोती हुई बोली- 'बेटा, मैं तो बहुत घबड़ा गयी थी। जब सब लोगों ने अखबार पढ़कर बताया कि बम विस्फोट करने में आज छः कैदी मारे गये हैं।' वह निर्विकार माँ की बातें सुनता जा रहा था, जिस निश्चय और योजना को लेकर वह जेल से बाहर निकला था उसे परिवार के भावुक परिवेश में खोना नहीं चाहता था। भैया और माँ का साथ उसे बार-बार मोह के घेरे में डाल रहा था पर वह संयत होकर साथ-साथ बढ़ता जा रहा था।

तभी एक क्षीण सी आवाज ने उसे चौंका दिया। आँख उठाकर देखा तो एक दुर्बल सी वृद्धा बड़ी आकुलता से दोहरा रही थी- 'तपन राय' वह हत् वाक्य सा ठिठक कर उसे देखने लगा। वह बोलती जा रही थी- 'मैं तपन राय की माँ हूँ, वह जिंदा तो है।'।

मुक्तांचल की आँखों से पथरा गये आँसू झर पड़े, पूरे शरीर में बिजली सी काँप गई, विगत रात्रि का रोमांचक दृश्य आँखों के सामने उतर आया, तपन के अस्फुट शब्द उसके हृदय को छेदने लगे- 'मेरी माँ मिले तो कहना तपन जिंदा है।'।

वह एकाएक चिल्ला उठा- 'तपन जिंदा है' और तेजी से भागने लगा- भागता गया, माँ, भैया, भाभी, अंजू सब को ठगा-सा छोड़कर भागता चला गया- सैकड़ों मुक्तांचलों का निर्माण करने के लिए।

संपर्क :

आधुनिक अपार्टमेंट, 6/2/1, आशुतोष मुखर्जी लेन,
सालकिया, हावड़ा- 711106, मो. 8420680272

मराठी कविता

अनुवाद : विपिन चौधरी

गोविंद विनायक करंदीकर मराठी के प्रसिद्ध लेखक हैं। वे 'विंदा करंदीकर' के नाम से भी जाने जाते हैं। इस महान कवि को भारत के सर्वोच्च साहित्य पुरस्कार ज्ञानपीठ से नवाजा गया था। वे कवि के साथ-साथ निबंधकार और आलोचक भी थे। उन्होंने महान यूनानी विद्वान अरस्तू की कविताओं को मराठी में अनुवाद किया। करंदीकर को आधुनिक मराठी कवियों में सबसे प्रयोगधर्मी कवि माना जाता है।

मैंने तुम्हें देखा नहीं

मैंने तुम्हें देखा नहीं और शायद देखा भी नहीं
तुम्हारे पास भूखी आँखों को जीत ले जाने की शक्ति थी
प्रकाश का भाला तुमने सीने में फेंका होता, उत्तर ध्रुव के
हिमगिरी को निगलने वाली तुम्हारी उस जलती प्यास से
मेरी आत्मा अकुलाई होती
मैं छटपटाय़ा होता
लड़खड़ाया होता
रात के जबड़े में अपनी वेदना की गर्दन लेकर
सिसक-सिसक कर रोया होता
लेकिन मेरे पैर नहीं उगे तो
क्योंकि प्यास से आँख भले ही उगे, वेदना से पैर नहीं उगते
गीता से भी पैर नहीं उगते और उपनिषदों से भी पैर नहीं उगते
यही हो सामान्यों की शोकोतिका है- बाये पैर की संकरी त्रिज्या से ही
हरेक को अपने जीवन का एक अर्धवर्तल बनाना होता है
उसे पूर्ण करने की अपनी प्यास इस फिसलन भरी मिट्टी से तुम मत लेना
असामान्य,
मैं अपना जखम आज तुम्हारे सामने खोलने वाला हूँ
आज मैं तुम्हें धोखा नहीं दूँगा
मैंने तुम्हें देखा नहीं और शायद देखा भी नहीं होता।

अनुष्ठीक्षा (विष्णु) से अनुचिंतन के उत्तर पाठ

रमेश कुंतल मेघ

चारुशिला प्रौढ़ कवियित्री नीलम जुल्का का यह पहला युक्त काव्य संग्रह है “सूर्य सारथी संग-संग” (२०१५) इसका नातिदीर्घ (न-अति-दीर्घ) संसार है लेकिन सहयात्रा सूर्य अर्थात् विष्णु और जगत जीवन, अथवा सूर्य-सारथी अर्थात् विष्णु-कृष्ण और उषा-नीलम के संग-संग लघु-लघु, विविध- बहुत प्रेयस-श्रेयस यात्राएँ हैं। इस तरह अब इसका समासों में बंधन कर लें- ‘सूर्य सारथी संग-संग।’

कवि की प्रमुख जीवन-संदृष्टि (लाइफ व्यू) आदर्शोन्मुख, आशावादी तथा दिवास्वप्नों वाली है तो कठोर यथार्थता की गलियों के बाहर की भी अनुभूति करती है: ‘शब्दों का सौंदर्य/ अर्थ उद्घाटन में। अब मन खुद ही अर्थ की नई भंगिमा हो गया है।’ इसके अलावा कवि का उपागम द्वित्वात्मक (बाइनरी/ड्यूएल) है जो त्रित्व (ट्रायलेक्टिक) होते-होते दम थम जाता है, या जब-तब यहाँ-वहाँ, कब-अब आदि ‘भोर के शंखनाद में/जब आँगन के/पेड़ तले/बिछे हर सिंगार की महक/ अपनी भीनी छुअन से/ हौले से/ जगाती है/ तब तुम मेरे पास होते हो।’....यही बोध ‘थे’ और ‘हैं’ का भी बाइनरी बनाता है।... तीसरी बात कि, कवि का संबोध आधुनिक है परंतु समकालीन आधुनिकतावादी मुहावरों से बगल काट कर जाता है। तथापि चेतना की विक्षता में उनसे बारंबार जूझती भी हैं- ‘एक मिसाल’ ‘उड़ते कदम (पृ. १८) की मजदूरनी है जो सिर पर पत्थर ढोती किंतु अपने बचुआ का श्रम-उपचार करती है तदपि एक दिन रोशनी से संवाद का विश्वास पालती अंकागाई कर्मशीला भी है। ऐसा ही ‘एक दिन रोशनी से संवाद’ कविता (पृ. २०) है।

सो, कवि की जीवन संदृष्टि का खुलासा करने के लिए यह समझदारी लाजिमी है। समाजशास्त्रीय डिस्कोर्स के नजरिये से ‘मध्यवर्गीय आधुनिकता’ उदारता तथा संस्कारों के बीच हिचकोले खाती है। बहुधा इस वर्ग की अल्पदृष्टि (मायोपिया) होती है। इसकी मर्यादाएँ हैं तो थरथराती रहती हैं तदपि अप्रत्याशित जरूरतें मार्ग में पगडंडियाँ बना लेती हैं। ये छोटी-छोटी खुशियाँ, ढँके-खुले गम से भरी होती हैं। सो, उसकी खुशियों, गमों, इच्छाओं के ब्रीफकेस में हसरतों की गौरैयाएँ, कुटिल चक्रों के जुगनू, ओढ़नी के त्रासदी, खनकती पायल की मदमस्ती, दुःख की विडंबनाएँ, मन के आकाशदीप हैं। साथ ही लहर-लास्य की सघनता के मधुरता, भावुकता, दोस्ती की पंखुरियों की नूरे दुलाही तथा बालिका से सशक्त नारी होने के जाति ‘सैल्यूट’ है। ये उनकी कविताओं में से ‘टंगे-चुने पंथ तथा भीड़ है। पूरे संग्रह में ‘नहीं बेटी- नन्हीं परी’ ‘आज घड़ी सुहानी आई/ नन्हीं परी खुशियाँ भरपूर लाई/ पाकर हिमगिरी सा गौरव/

और सागर की अतल गहराई/बनना इतिहासों का सुनहरा पन्ना। यह धरती है तुम्हारी/ आसमान भी है तुम्हारा।' 'नहीं परी' का नूरानी नूर प्रदीपित है। 'नूरानी नूर' (पृ. ३३) एक अप्रतिम कविता है। (उक्त अंश कविताओं से ही लिये गए हैं)।

ये अंश प्रतिदर्श (नमूने) हैं, प्रादर्श (मॉडल) हैं तथा आदर्श (आइडियल) हैं। ये कविताओं में अभिराम इंद्रजाल बुनते हैं- 'रोशनी से संवाद' में प्रतिदर्श और आदर्श, खनकती- खनखन (पृ. ६६) में प्रादर्श, वजूद (७४) में आदर्श, 'बाँसुरी की धुन' (पृ. ११३) में तीनों गुत्थम गुत्थ है। सारे संग्रह में ये वृत्तियाँ हैं।

इसी तरह एक हाशिये में दो कविताएँ हैं जिनमें दिवास्वप्न, कल्पविश्व (यूटोपिया) तथा साहचर्यों का जमघट है। इन्हें परिष्कृत करके आधारशिला बनाने की अपार संभावनाएँ हैं- यादें (पृ. ६०), अनंतरूपा होती है कविता (पृ. २५) सौंधी खुशबू (पृ. १०५), विस्मय विमुग्ध (१४)।।

नीलम कवयित्री ने यथार्थ के चक्रचिह्न के तौर पर भय और आतंक को भी जाता है किंतु ये मूल प्रयोजन नहीं हैं। भेड़िए (पृ. ६७) में मन की आंतरिक भयानकता, विसंगति 'कहीं टूट न जाए वीणा के तार' (पृ. ६९) में त्रासदी के पूर्व की विसंगति (भद्दी फूहड़ता) के साथ एक महाकाव्यात्मक लंबी कविता 'बचनी' (पृ. ८५) है। यह लेखिका को कालोतीर्ण कर रही है, 'बाँसुरी के धुन' के साथ-साथ।

नीलम ने प्रीत का 'मोहन' तथा 'मादन' पक्ष खोला है। उन्नतिपंथी नारी की संपूर्णता का परचम (पृ. ४०), 'सैल्यूट' (पृ. ९७), 'एक गुड़िया की अभिलाषा' (पृ. ८०), 'माँ' (पृ. ४९) के माध्यम से।

नारी-धुरी की कविताएँ तो कवि की अटपटी नहीं बच्ची के जन्म से लेकर जन्म युवती, प्रौढ़, समान असक्त होने तक का नया अनुपालक भागवत रचती हैं। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में हम इनकी बालिका पर लिखी गई सुभद्रा कुमारी चौहान की वैसी कविताओं से तालमेल कर सकते हैं। इसी अन्य हाशिये के चोरी-चोरी, चुपके-छुपके, बस उछाड़ कर चुनिंदा नमूने (प्रतिदर्श/सैंपल) ही कवि ने दिये हैं- वे उदात्तता और उमंग छलकाते हैं,

मचलते हठ करते हैं- श्री मनमोहना (पृ. १०), सानिध्य (पृ. ३०), खनकती-खनखन (६६)। अथच, कमी दर्दिली रेखाएँ भी घायल मिलती हैं- भूल भुलैया (पृ. १०२), घर (पृ. ९६)। तदपि भई वाह! कविताओं की ऊँची आटरिया में उनके विभोर नारीत्व-मन का यह बनभोर भी गजब अजब-सा उन्मत्त होकर नाचा है। पल, पल, हर पल, ठुमक ठुमक!!

इन दशाओं को देश-काल से जोड़ने को मिथकों की अध्येता नीलम ने मिथकीय पात्रों तथा उनकी परिस्थितियों का सटीक और सार्थक इस्तेमाल किया है- 'साखियों-साक्ष्यों के तौर पर वे मसलन, 'कान्हा! जब भी मन चाहे/ तुम बाँसुरी न बजाया करो/...मिट्टी की गंध हलचल मचाती है। खींचती है मुझे/ उस कर्म-कुलाल की ओर/ जहाँ कई/ अर्ध निर्मित पात्रों की छटपटाहट/ अपने रूपाकार पाने को/ शोर मचाती है। तो रसमयी चिति/ कई खंडों में बँट जाती है।' कालियानाग (पृ. ९), वासुदेव गांडीव (२७), अभिमन्यु, सुदर्शन चक्र, भस्मासुर और फीनिक्स। इनके उपयोग-प्रयोग से अब विकल्प उपलब्ध हो जाते हैं तब तो हम फर्क कर सकते हैं, तब हम घटिया और मामूली को चुनने को विवश नहीं होते, तब हम दमन और आतंक और भय के इस्तेमाल करने वाले वर्तमान घटकों (धर्म, जात, भावनाएँ, रूढ़ियाँ, झूठी मर्यादाओं) के मुखौटे उतार फेंक सकते हैं। तब हम पुनर्नवा भी हो जाते हैं। ऐसी उलझनों से जूझने की मिसाल उक्त कविता (पृ. १०९) है। अथच, आगे भी और कहने को शेष है। नीलम की कविताओं में पुरुष का वर्चस्व नहीं है। इनमें कुचलने (सप्रेषन) की दशा नहीं है। सामाजिक नियंत्रण (रिप्रेषन) तो है। भारतीय नारीत्व की सुदृढ़ छवि है। तदपि वे भारतीय हज्जाई दब्बूपन से जुड़ी यौनता, देहत्व, लिंगता (जेन्डर) तथा देश के रूढ़ जड़ कानूनों से अभी पूरी लड़ाई का इंतजार करती लग रही है। उनके मनोलोक में 'स्व' (सेल्फ) से विचित्र संबंधता को परिभाषित कर रही है। इसीलिए उनकी प्रणयलीला की आशिकी की सूफी परंपराओं से तुलना कर सकते हैं- जहाँ 'छाप तिलक सब छीन्ही/ मोसे नैना मिलाई के। बलि बल जाऊँ मैं तोरे रंगरेजवा/ अपनी भी रंग दीन्हीं तोसे नैना मिलाइके।'।

अब आखिरी चर्चा 'मन' की कर लें क्योंकि संग्रह में यह अतिव्याप्त है।

उनके मन-केंद्र में भय नहीं है। जितना अधिकाधिक विरोध-नियंत्रण होता है उतनी ही बंधनोत्तर अभिव्यंजना झिलमिलाती है। तदुपरांत मन के गूढ़ गुप्त ज्वार भाटों ने उन्हें समय के झरनों में भिगों दिया है। याद रहे कि भय अभिव्यंजना को नष्ट करता है। नीलम ने छोटी-छोटी कविताओं के चक्रचिह्न से इस समीकरण (इक्वेशन) को खत्म कर दिया है। अतएव यहाँ पाप और अपराध, क्रूरता और अमानुषता भी नहीं है। इसे नोट किया जाए। खुशियों और उत्कर्षों के जो नन्हें पल 'नन्हों परी' जैसी बिटिया देती है- वे नीलम जुल्का को नवीनता तथा निरंतर भव्यता देते हैं। सो, भय के बरक्स; मन का उत्सर्ग वर्चस्व है। यही नारीत्व में कायांतरित (मेटामॉर्फोस) हो रहा है। कवि नीलम की यह ललितोदात्त विलक्षणता है।

यहाँ सांख्य दर्शन वाला बुद्धि एवं अहंकार से उत्पन्न 'मन' नहीं है। यह मनोदैहिक, मनोराग-मनोयोग, मनोमुकुर आदि वाला मनस्तत्त्व है (साइकी, चिति) इसकी परिकल्पना 'उद्गीथ' (पृ. ९९), यादें (पृ. ६०), ओ मनमोहना (पृ. १०) में यथेष्ट संलक्षित है।

यह मन ही मोहन (पुरुष) तथा मादन (नारी) और उभयात्मक है। यह देह-जगत तथा तन का रूपांतरकारी है। काव्य की उक्तियों में मन लास्य नृत्य में खोया है, अर्थ की नई भंगिमा है। धवल हँसी, सुरमय संगीत, आकाशदीप

है। यह उल्लास का रसरंग (पृ. ५३) है। यह मुस्काता बसंत है (७५) और यह (नारी की) महासृष्टि है (पृ. ११०)। जैसा कि हम बता आये हैं कि यह स्वत्व या स्वयं (सेल्फ) से विचित्र संबंधता है। निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि इस संग्रह की कुछ कविताएँ सृजनधर्मिता की मील पत्थर हैं। इन्हें हम शैलीगत 'नीलम मार्कर' नाम दें- ओ मन मोहना (पृ. १०), सान्निध्य (पृ. ३०), नूरानीनूर (पृ. ३३), यादें (पृ. ६०), कहीं टूट न जाएँ वीणा के तार (पृ. ६९), वचनी (पृ. ८९), बाँसुरी की धुन (पृ. ११३)।

सो, यह संग्रह इच्छाओं, चिंतन और मनोलोक की उत्तीर्णता का दर्पण है। पुनश्च: अब पंजाब-हरियाणा में हिंदी काव्य का भी उत्कर्ष हो रहा है- सौमित्र मोहन, कुमार विकल, बलदेव वंशी, गंगा प्रसाद बिमल, पृथ्वीराज कालिया, नरेन्द्रमोहन, माधव कौशिक, चंद्रत्रिखा, शुभदर्शन, चंद्र भार्गव, उर्मिल सखी, कमलेश आहुजा, पुनीता बावा, शशि प्रभा, सुभास रस्तोगी के संग सुनीता जैन, मीरा गौतम, राज शर्मा, तृप्ता सरीन, सुदर्शन प्रियदर्शिनी, अनीता कोमल, तरुणा, नीलम जुल्का, अरुणा आदि।

पुस्तक : सूर्य सारथी संग-संग (काव्य संग्रह)

कवि : डॉ. नीलम जुल्का

समीक्षक : रमेश कुंतल मेघ

प्रकाशक : यूनिस्टर बुक्स, एस.सी.ओ, 26-27, सेक्टर-34ए, चंडीगढ़-160022,

संस्करण : 2015,

संपर्क:

फ्लैट सं. 3 (भूतल) स्वात्तिक विहार, फेज-III, मनसा देवी कामप्लेक्स,
पंचकूला- 134109 (हरियाणा), मो. 09780774224

‘फिर भी कुछ रह जायेगा’ -खिलोप के इस मारक समय में भी डॉ. व्यास मणि त्रिपाठी

नई सदी की चुनौतियों ने रचनाकारों को यह सोचने पर विवश कर दिया कि क्या यह धरती बची रहेगी? वनस्पतियों तथा प्राणियों का मनोहर लोक क्या अपनी अस्मिता बचाये रख सकेगा? और तो और शब्द की सत्ता क्या बची रह सकेगी? इन्हीं चिन्ताओं ने प्रो. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को भी चिन्तित और आंदोलित किया है जिसका परिणाम है उनका काव्य-संग्रह ‘फिर भी कुछ रह जायेगा’। इसका ध्वन्यार्थ यह है कि सब कुछ नष्ट हो जाने की स्थिति में भी न तो जिजीविषाएँ मरेंगी और न ही आस्थाएँ तिरोहित होंगी। न तो सपने सूखेंगे और न ही शब्द व्यर्थ होंगे। यानी कुछ न कुछ रहेगा। क्या और कितना रहेगा इसका अंदाजा लगा सकने की असमर्थता के बावजूद उन्हें दृढ़ विश्वास है कि जरूर कुछ रहेगा। तभी तो वे पूछते हैं- “क्या तुम्हें यकीन है/ आग सब कुछ जला सकती है/ सब कुछ सुखा सकती है हवा/ पानी सब कुछ गला सकता है/ सब कुछ मिटा सकता है।” फिर स्वयं उनका उत्तर है- “नहीं, जरूर कुछ रह जायेगा।” विलुप्ति के इस मारक समय में भी उनका आशावाद इतना प्रबल है कि धरती पर अभी जो संभव नहीं हुआ है उसके बचे रहने की वो कल्पना कर लेते हैं- “असंभव नहीं कि रह जाय वही/ जो नहीं है अभी।” इस तरह के भविष्य कथन के मूल में कोई-न-कोई आशंका अथवा भय का भाव तो होगा ही। इसका खुलासा संग्रह की दो कविताओं ‘कैसा समय’ और ‘पूरे करो वायदे’ में हुआ है। तिवारी जी पूछते हैं- ‘कैसा नगर है यह/ और कैसा समय/ जहाँ- अकड़े हैं पुरुष/ और जकड़े हैं पुरुष/ भरी हैं स्त्रियाँ/ और डरी हैं स्त्रियाँ/ किलक रहे बच्चे/ औ कल्प रहे बच्चे।’ जाहिर है भूमंडलीकरण और बाजारवाद के इस युग में मानवीय संवेदनाएँ निरन्तर क्षीण हो रही हैं। स्नेह, सौहार्द, आत्मीयता और बन्धुत्व पर वणिक् वृत्ति की काली छाया मँडरा रही है। अर्थ-कीट संबंधों के मूलोच्छेदन में लगा हुआ है। धरती ऊसर, सागर व्यथित और आकाश लहलुहान हो रहा है। जिस रत्न प्रसवा की अनन्त उर्बरा कोख में न जाने कौन-कौन से रत्न छिपे हैं और जिसके लिए ऋषियों ने गान रचे हैं वही कोख आज बॉझ हो रही है। वही धरती माँ आहत है। उसके आँचल जल रहे हैं। वह कटी-फटी, जली-भुनी, सड़ी-पड़ी है। सब कुछ कवि की आँखों के सामने हो रहा है- “चल रही आरियाँ/ कराह रहीं पत्तियाँ/ चीख रही घाटियाँ/ भाग रहा हिरनों का झुण्ड। उतरा रही मछलियाँ/ काट रहे देवदारू/

रेत हो रही भवतारिणी।” ऐसे परिवेश में यह आशंका निर्मूल नहीं है कि हमारी धरती हमारा आकाश, हमारा पर्यावरण, हमारा समाज यानी कुछ भी नहीं बचेगा। इसीलिए भविष्य द्रष्टा कवि का अपने समानधर्माओं से आग्रह है कि ‘कवियों, पूरे करो अपने वायदे/ शायद कुछ बच जाय/ तुम्हारे शब्दों से। जाहिर है शब्द ब्रह्म है, प्रार्थना है, मंत्र है इसीलिए कवि को उसकी ताकत पर पूरा भरोसा है तथा उसके साधकों पर भी। इस संवेदन शून्य होते जगत में शब्द और उसकी साधना करने वालों के दायित्व के प्रति आश्वस्त होकर ही प्रो. तिवारी यह कह सके हैं कि ‘फिर भी कुछ रह जायेगा’।

कविता में ‘अंधेरा’ अपनी प्रतीकात्मकता में समय की भयावहता, जटिलता, संवेदनहीनता अमानवीयता, अभाव, गरीबी, दुःख, अज्ञान आदि का अर्थ लेकर आता है। समाज और राजनीति का श्यामवर्णी रंग उभारने वाला यह प्रतीक जब जंगल का साथी बनकर कविता में आता है तब इसकी नृशंसता और भयावहता की तीव्रता का अंदाजा लगाना कठिन नहीं है। संग्रह की कविताओं में ‘अंधेरा’ शब्द भी उसी त्वरा के साथ है। ‘आजादी’ शीर्षक कविता में ‘अंधेरिया है रात सजन/ समय ना गवाएँ’ की व्यंजना बहुत दूर तक जाती है। अंधेरगर्दी के इस स्वतंत्र माहौल में जो जितना लूट सके, लूटे। ‘आत्मा’ कविता में कवि को अँधेरे जंगलों से आ रही हिंसक पशुओं की आवाज सुनायी देती है तो ‘चढ़कर मेरे जीवन रथ पर’ में अँधेरा बाहर और भीतर दोनों ओर है लेकिन यह विश्वास भी है कि घने अँधेरे में खुद राह ढूँढ़ने वाले के लिए इशारा करने वाला कोई न कोई मिल ही जाता है— “राह तो ढूँढ़नी होती है खुद/ मगर कर देता इशारा/ कोई न कोई।” यह निराला के ‘केवल जलती मशाल’ की तरह का आशावाद है। अँधेरों में पुस्तकें राह दिखाने का कार्य कर सकती हैं लेकिन भौतिकता की आँधी और तकनीकी क्षेत्र में हो रहे नित नवीन अविष्कारों ने उनकी जो दुर्दशा की है उसका आलम यह है कि वे सीढ़ी के नीचे अथवा गैरेज के कोने में बोरी में बाँधकर या चट्टी से ढँककर, तख्ते के नीचे अथवा फूटे गमले के ऊपर रखी जाकर आँसू बहाने के लिए अभिशप्त हैं फिर भी कवि को विश्वास है कि “आयेगा

कोई न कोई/ दिग्भ्रमित बालक जरूर किसी शताब्दी में/ अँधेरे में टटोलता अपनी राह।”

जीवन एक जटिल एवं अबूझ पहेली है, फिर भी इसे सुलझाने के सतत प्रयत्न होते रहे हैं। इस संग्रह की ‘मेरी जिन्दगी’, ‘पानी सा’, ‘जीवन का अर्थ’, ‘जीवन संग्राम’ आदि कविताओं में जीवन के रहस्यों से पर्दा उठाने की कोशिश दिखाई देती है। जीवन का अर्थ ढूँढ़ने की उत्सुकता और व्यग्रता दिखाई देती है। प्रो. तिवारी को कभी लगता है कि जीवन होने और न होने के बीच की स्थिति है— “होने और न होने के बीच थी/ मेरी जिन्दगी/ यदि कोई कहना ही चाहे/ इसे जिन्दगी।” तो कभी संत रैदास की तर्ज पर जीवन पानी की तरह लगता है— “पानी का जीवन/ प्रभु पानी सा।” कभी व्यर्थताबोध के क्षणों में उन्हें महसूस होता कि जीवन का अर्थ वही नहीं है जो अब तक बताया गया है— “अर्थ नहीं था वह/ यदि होता/ तो आज न लगता व्यर्थ।” कभी लगता है कि संघर्ष और नित नवीन चुनौतियाँ जीवन का अर्थ देती हैं— “यह चोटी गुजरी वह आयी/ वह गुजरी फिर नयी आ गयी।” जीवन में भागमभाग आपाधापी मची हुई है। आज के बाजारवाद ने अर्थ लोलुपता इतनी बढ़ा दी है कि मन को न तो शान्ति है और न ही शरीर को विश्राम। तिवारी जी भाग-दौड़ की व्यर्थता का बोध अपनी कविता ‘कहाँ जाना था’ में कराते हैं— “पहुँचा कहाँ कहाँ जाना था/ ...रुका चला दौड़ा/ अनजान दिशाओं में/ टोकर खाया उड़ा/ मुड़ा विपरीत हवाओं में/” चाहिए क्या था? “कभी काम रस, कभी दाम रस/ सभी रसों का घोल नाम रस।” इसका परिणाम क्या निकला— “गला सूखता जाता बियाबान में/ चुने चुथे पाखी सा महाश्मशान में।पहुँचा कहाँ कहाँ जाना था।” क्या यही जीवन है? कामना, कठिनाई, संघर्ष, अवरोध और अंत में श्मशान। जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता पर ढेरों साहित्य लिखा गया है। भक्त कवियों ने तो जीवन-जगत की माया-मोह के मिथ्यात्व को समझाने में ही अपना जीवन खपा दिया। इस संग्रह की ‘अम्बपाली’ कविता में भी नश्वरताबोध बहुत खूबसूरती के साथ प्रस्तुत हुआ है— जैसे संसार की नश्वरता का यह वर्णन ‘मंजरियों से भूषित/ यह सघन सुरोपित आम्रकानन/ सत्य नहीं है अम्बपाली/ यही कहा तथागत ने। झर जायेंगी

तोते के पंख जैसी पत्तियाँ/ टूट हो जायेंगी भुजाएँ/ कोई सम्मोहन नहीं रह जायेगा/ पक्षियों के लिए/ इस आम्रकुंज में/ यही कहा तथागत ने।” जाहिर है कोई भी इस संसार से विदा होना नहीं चाहता। कुछ तो ऐसे भी हैं जो अपने को अजर अमर मानते हैं। कुछ दूसरों की मृत्यु देखकर भी स्वयं मृत्यु बोध से अनजान बने रहते हैं। रूप गर्विता अम्बपाली भी तो मृत्युबोध के नकार के क्षणों में यही चाहती है कि तथागत के वचन सत्य न हों। उसकी मनोदशा और अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से कवि ने नश्वरता संबंधी एक शाश्वत प्रश्न सामने लाकर खड़ा कर दिया है—

दर्पण से पूछती है अम्बपाली
अपने भास्वर, सुरुचिर मणि जैसे नेत्रों से पूछती है
पूछती है भ्रमरवर्णी स्निग्ध, कुंचित केशों से
तूलिका अंकित भौहों से पूछती है
पुष्पवासित रत्नभूषित त्वचा से
होठों की काँपती कामनाओं से
देह के स्फुलिंगो से पूछती है
अम्बपाली
क्या अन्यथा नहीं हो सकते
सत्यवादी बुद्ध के वचन ?

कबीर ने कहा था कि ‘जगत’ चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद’ तब उनका आशय यही था कि मृत्यु की पहुँच से बाहर कुछ भी है। प्रो. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने लगभग उसी जमीन पर थोड़ी नवीनता के साथ यह कहा है कि जन्म के साथ ही मृत्यु का जन्म हो जाता है। आत्मरक्षा के सभी अस्त्र वस्तुतः मृत्यु के ही अस्त्र हैं। मृत्यु से न छिपा जा सकता है और न ही भागकर बचा जा सकता है— “जब उससे बचने के लिए/ मैं भाग रहा था/ तेज और तेज/ और अपनी समझ से/ सुरक्षित पहुँच गया जहाँ/ वहाँ वह मेरी प्रतीक्षा में/ पहले से खड़ी थी/ मेरी मृत्यु/ इस संग्रह की ‘पूँजी’ कविता अपने आकार में छोटी होकर भी बड़ा अर्थ समाहित किए हुए है। मिट्टी, पानी, आग और हवा जीवन की पूँजी है। इसी परिप्रेक्ष्य में यदि ‘क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर’ को याद करें तो शरीर की संरचना की प्रक्रिया का बोध हो जायेगा। यह पूँजी इस लोक में प्रस्तुत है— “चुटकी भर मिट्टी/ चोंच भर पानी/

चिलम भर आग/ दम भर हवा/ पूँजी है यह/ खाने और लेकर/ परदेश जाने के लिए।” देह में ब्रह्माण्ड की कल्पना (यथा पिण्डे ब्रह्माण्डे) कोई नवीन नहीं है लेकिन इस संग्रह की ‘देह’ कविता में देह को जिस प्रकार महिमा मण्डित किया गया है वह औरों से न केवल अलग है बल्कि नवोन्मेषशालिता का परिचायक भी है। इसकी ये पंक्तियाँ जीवन और मृत्यु के बीच के द्वन्द्व को मुक्त करने में चाहे सफल भले न हों लेकिन नश्वरता के बोध से मुक्ति दिलाने के अपने उद्देश्य में सफल हैं— “नश्वर है यह/ मगर यही तो मुक्त करती है/ नश्वरता के बोध से।”

बौद्ध-दर्शन के सर्वाधिक चर्चित शब्द हैं— दुःख समुदय, दुःख निरोध आदि जिनका सार्थक उपयोग ‘मनुष्यता का दुःख’, ‘उसके दुःख’ और दुःख निरोध का मार्ग’ शीर्षक कविताओं में हुआ है। तिवारी जी का मानना है कि दुःख की कथा अनंत है और इसे बुद्ध से पहले भी जानने समझने की कोशिश की गयी है लेकिन इसे न तो सम्पूर्णता के साथ कहा जा सका है और न ही लिखा जा सका है। इसे देखने के लिए न तो भविष्यवक्ता के पास जाने की जरूरत है और न ही अस्पताल, शहर, गाँव जाने की। जो जहाँ खड़ा है वहीं से देख सकता है— “पानी की तरह राह बनाता नीचे/ और नीचे/ आग की तरह लपलपाता/ समुद्र सा फुफकारता दुःख।” इस दुःख की व्याप्ति इतनी है कि यह किसी भी धर्म और पोथी में पूरी तरह अँट नहीं सका है। अनेक रूपधारी यह भीतर बाहर सर्वत्र परिव्याप्त है। यह पूर्णतः समाप्त तो नहीं हो सकता लेकिन कम हो सकता है जिसका मार्ग तिवारी जी के अनुसार यह है— “तुम/हाँ हाँ तुम/ सिर्फ हथेली से उदह दो/ तो चुल्लू भर कम हो सकता है/ मनुष्यता का दुःख।” यद्यपि उन्होंने गौतम बुद्ध से भी पूछा है कि— “क्या है मेरे दुःख निरोध का मार्ग ?” लेकिन बुद्ध ही नहीं कोई भी दार्शनिक अथवा तत्त्व चिंतक क्या उत्तर देगा इसका ? क्या इसका समाधान है— गौतम बुद्ध के पास— “वृद्ध पिता हैं/ जर्जर माँ/ रुग्णा पत्नी/ कुँवरी कन्या/ तथागत !/ क्या है मेरे दुःख निरोध का मार्ग।” जाहिर है इच्छायें दुःख की जननी हैं किन्तु क्या उनसे रहित संसार की कल्पना संभव है ? संसार है तो दुःख है। दुःख नहीं तो संसार नहीं। कारण यह है कि

सृजन कामना की उपज है और कामना दुःखजन्य है। इसलिए कामना का न तो तिरोधान संभव है और न ही कामना के बिना संसार का कोई अर्थ है। यही कारण है कि कवि ने प्रभु से यह निवेदन करना अपना कर्तव्य समझा है कि- *“पूरी हों, हों/ न हों/ प्रभु। लहलहाती रहें कामनाएँ।”* यहाँ ध्यातव्य है कि भक्त कवि कामनाओं के नाश पर जोर देते रहे हैं। उनके अनुसार दुःख निवृत्ति का मार्ग कामना-त्याग की ओर से होकर जाता है और सच्चा सुख तो संसार में संभव ही नहीं है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दुःख की भाँति सुख भी जीवन के आरम्भ से ही विचारणीय मुद्दा रहा है। सुख क्या है? कहाँ मिलता है? कब मिलता है? किसको मिलता है? आदि पर काफी चिंतन-मनन हुआ है। जयशंकर प्रसाद दुःख की पिछली रजनी बीच सुख का नवल प्रभात विकसता देखते हैं। प्रो. तिवारी इससे बिल्कुल अलग मंतव्य प्रकट करते हैं। अपनी ‘सुख’ शीर्षक कविता में वे लिखते हैं- *“क्या जो नहीं आते/ उन्हीं को कहते हैं सुख।”* जीवन की आपाधापी और भागमभाग के बीच बटोरे गये सुख को वे एक चिथड़ा सुख की संज्ञा देते हैं- *“पागलों सा बटोरता रहा/ एक चिथड़ा सुख।”* विज्ञापन-बाला के दुःख में झाँककर कवि ने देखने की चेष्टा की तब उन्हें लगा कि उनका दुःख कभी-कभी दूसरे के सुख का कारण भी बनता है- *“एकाएक मुझे लगा/ क्या अपने दुःख को/ मेरे सुख में तब्दील कर देना ही/ नहीं है उसका दुःख।”* इस तरह दुःखमय जगत के बीच उस विज्ञापन-बाला की अदम्य जिजीविषा और मुखमंडल पर प्रसन्नता की कृत्रिम आभा से क्या सुख-दुख के झिलमिल स्वरूप का बोध नहीं होता? साथ ही यह भी कि सुख-दुख अपरिभाष्य हैं। उनकी कोई निश्चित व्याख्या संभव नहीं है।

स्त्री-विमर्श के अतिवादी नारों और विज्ञापनों से अलग तिवारी जी ने स्त्री की दशा और दिशा पर बहुत ही सार्थक लेखन किया है। उन्होंने स्थितियों और घटनाओं को ज्यों का त्यों रख दिया है, अपनी ओर से कोई टिप्पणी अथवा व्याख्यान की जरूरत नहीं समझी है। कविता में पक्ष या विपक्ष नहीं बनने की उनकी यही विशेषता उन्हें तथाकथित नारी विमर्शकारों से अलग भूमि पर खड़ा करती है। आज

का नारी-विमर्श जिस प्रकार पुरुष को प्रतिपक्ष अथवा प्रतिरोध में खड़ा करने की साजिश रच रहा है वैसे में स्त्री-पुरुष के बीच संतुलित और सामंजस्यपूर्ण व्यावहारिक दिग्दर्शन बहुत आवश्यक है। कहना न होगा कि तिवारी जी ने अपनी कविताओं के माध्यम से नारी समस्या की जड़ तक पहुँचने की कोशिश की है और इस प्रक्रिया में उन्होंने अनुभव किया है कि नारी की समस्या का समाधान केवल आँसू बहाने अथवा आग उगलने से नहीं हो सकता बल्कि उसके लिए स्वातंत्र्य स्वावलम्बन और सामंजस्यपूर्ण व्यवहार की जरूरत है। नारी परिवार की धुरी है और एक आदर्श परिवार तिवारी जी की कल्पना का उदात्त विधान। इसीलिए उन्होंने नारी के त्याग और समर्पण की महिमा प्रस्तुत करने में अधिक रुचि दिखाई है। इस संग्रह में पति को प्रताड़ित, आदमी को अपमानित और व्यक्ति को व्यथित करने वाली कविताओं का अभाव है लेकिन स्त्री की दयनीयता, हीनता, उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार और अत्याचार संबंधी कई कविताएँ हैं। अन्य नारीवादियों की भाँति तिवारी जी ने भी स्त्री की परतंत्रता का एक कारण आर्थिक परनिर्भरता मानी है। इसी से वह डरी सहमी रहती है तथा पति का विरोध करने का साहस नहीं जुटा पाती- *“कड़का वह बिजली की तरह पुरुष/कमाई की गड़गड़ाहट थी उसकी आवाज में/ सहम गयी स्त्री/ फिर रह गई मजते बर्तनों की टन फन/ नल से पानी गिरने की घड़ घड़/ फिचते कपड़ों की छप-छप/ सिल बट्टे की कच-कच।”* यही है भारतीय नारी। आँचल में दूध और आँखों में पानी लिए करुणा की मूर्ति बनी वह जूटे बर्तन धोती, झाड़ू पोछे के बाद बेटियों को सँवारकर स्कूल भेजती, शिशु रुदन पर बीच ही में पूजा छोड़ सू-सू साफ करती, बेटियों के स्कूल से वापस लौटने पर उनके टंट-घंट में जुटती, संज्ञा की रसोई में जुतती, सबके खाने के बाद बैठती और फिर पति की बांहों में बेटियों के ब्याह के बारे में सोचते-सोचते सपनों की दुनियाँ में खो जाती और इस तरह नींद में ही सभी तीर्थों की यात्रा पूरी करती है। वह त्याग और सहिष्णुता की ऐसी देवी है जो स्वयं उपवास करती है लेकिन पति परिवार तथा मेहमान को भोजन कराने में सुख और संतोष का अनुभव करती है- *“दोपहर भोजन के आखिरी दौर में/ आ गए एक*

मेहमान/ दाल में पानी मिलाकर/ किया उसने अतिथि सत्कार/ और बैठ गई चटनी के साथ / बची हुई रोटी लेकर।” नारी की दिनचर्या का एक कारुणिक आख्यान है जहाँ कवि की भूमिका किसी पैरवीकार की नहीं बल्कि यथास्थितिवादी की है और चिन्तन-मनन तथा निर्णय की जिम्मेदारी पाठकों के ऊपर है। ‘स्त्री की तीर्थयात्रा कविता की इस संग्रह में स्त्री की ‘अनन्त जन्मों की कथा’ भी है जिसमें वह सती शकुन्तला, सीता, आम्रपाली, द्रौपदी अदि के अनेक नाम रूपों में अपने भोगे यथार्थ की व्यथा सुनाती है- “पृथ्वी, पवन/ जल, अग्नि, गगन/ मरू, पर्वत, वन/ सब में व्याप्त है मेरी व्यथा/ मुझे याद है/ अपने अनन्त जन्मों की कथा।” इसी स्त्री को कवि ने इतनी बार देखा है कि याद नहीं आता कहाँ देखा है इसे। वह याद करने की कोशिश करता है तो पाता है कि- “देखा है इसको अफवाहों के बीच/ जब इसका पेट उठ रहा था ऊपर/ और शरीर पीला हो रहा था/ जिसे छिपाने की कोशिश में/ वह स्वयं हो गई थी/ अदृश्य।” मस्तिष्क पर थोड़ा और जोर देने पर कवि को लगता है कि “यही है/ जो महारथियों के नंगी होती/ करती अग्नि अस्नान/ धरती में समाती रही युगों-युगों से। लोक मर्यादा के अनुकम्पा के लिए।” ‘आखिरी अनुकम्पा’ शीर्षक कविता की काजी द्वारा सजा प्राप्त स्त्री जिसकी जीवनलीला समाप्त करने के लिए गाँव भर के लोग, मुखिया और सरपंच हाथों में नुकीले पत्थर लिये चारों ओर से घेर कर खड़े थे उसने सबसे दया की भीख माँगी लेकिन जब नहीं मिली तब उसने धरती माँ को पुकारा। धरती दरक गई। उसमें समाने से पहले उसने तो चेतावनी दी- “हे मेरे समय की देवियों/ सुहागिनों, अभागिनों/ कुवारियों-वेश्याओं/ फिर कभी मत पुकारना माँ को/ आखिरी अनुकम्पा है यह धरती माँ की/ नारी जाति पर।” उसकी व्यंजना यह है कि नारी पर किये जा रहे अत्याचारों से धरती भी दुखी है। अब वह और अनुकम्पा करने वाली नहीं है। इस संग्रह की एक महत्वपूर्ण कविता है ‘स्त्री विहीन रेल का डिब्बा’ जिसमें कवि का यह प्रश्न “कैसे पहुँचेगी यह गाड़ी सही सलामत/ स्त्री के बिना।” अपनी मार्मिकता और तार्किकता में लाजवाब है।

मीडिया लोकतंत्र का चौथा स्तंभ माना गया है लेकिन

क्या वह अपने दायित्वों का सम्यक् निर्वहन कर पा रहा है? क्या वह गरीबों, असहायों, विपन्नों के पक्ष में खड़ा होकर उनके प्रति न्याय की लड़ाई लड़ रहा है? शायद नहीं। तभी तो जलंधर से कमाकर अपने देश नेपाल लौट रहे पहाड़ी युवक की सुन्दर बीस वर्षीया बहन को गुण्डों द्वारा चलती गाड़ी से बाहर फेंक कर उठा ले जाने की घटना सिर्फ एक दिन अखबार का खबर बनती है। संवेदनशील हृदय कवि को उसके बारे में जानने की व्यग्रता है- लेकिन विडम्बना देखिये- “दूसरे दिन तलाशता रहा बेचैनी से/ कि क्या हुआ उस पार्वती का/ किस टीशन के पास रौंदी गई वह लक्ष्मी/ गोदी गई चाकुओं से किस खेत में दुर्गा/ किस कोठे पर बेची गई सरस्वती/ मगर दूसरे दिन का अखबार/ गूँज रहा रेलमंत्री की दहाड़ से/ धनबल, बाहुबल, सुरक्षाबल के अट्टहास में/ कहीं एक पंक्ति भी नहीं थी/ उस अनाम अबला के बारे में।” यहीं निराला की कविता ‘वनबेला में स्मरण हो आता है- “मैं भी होता यदि राजपुत्र/ ...लिख अग्रलेख छापते अथवा विशाल चित्र।” धनपतियों/ बहुबलियों/ नेताओं/ के आगे सामान्य जनता की कौन सुनता है?

स्वतंत्रता के स्वर्ण जयंती वर्ष में आकलन-मूल्यांकन की दृष्टि से ढेरों साहित्य लिखा गया है लेकिन शब्दों की मितव्ययिता में लिखी गई प्रो. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की कविता ‘पचास वर्ष पूरे होने पर’ अपनी व्यंग्यात्मकता और चमत्कारिता में बेजोड़ है। उपमा अलंकार के माध्यम से मानस पटल पर उभरता पचास वर्ष का यह चित्र अद्भुत है- “लुत्ती सा चमका/ बादल सा फटा/ तंबू सा उखड़ा/ पत्ते सा झरा/ पचास वर्ष।” उपमानों का यह नवीन प्रयोग अपनी अर्थवत्ता में बहुत कुछ कहता है।

राजधानी की चकाचौंध और जगर-मगर से आकर्षित कोई भोला-भाला ग्रामीण जब वहाँ पहुँचता है तब उसे किस तरह की मुसीबतों का सामना करना पड़ता है तथा उसके भीतर की संवेदनशीलता और आँखों का पानी मरता है इसका मार्मिक वर्णन करने वाली कविता है- ‘राजधानी’। संघर्ष का आलम तो यह है कि ‘इतनी रगड़ी गई चमड़ी/ भीड़ में और बेरहम मौसम में/ कि कोई अन्तर नहीं रह गया/ मेरे लिये आग और पानी में।’ अंत में जब वह गाँव

लौटता है तब उसे मृतकाया में उतारना पड़ता है।

स्मृतिहीनता के इस दौर में 'चिट्ठियाँ' कविता का महत्त्व इस अर्थ में है कि उसने अतीत के पन्नों को खोलने का कार्य किया है। आज के संचार माध्यमों तथा मोबाइल आदि की सुविधाओं का भोग करने वाले पत्र लेखन के महत्त्व को क्या समझेंगे किन्तु एक समय था जब चिट्ठियाँ दिल की धड़कन हुआ करती थीं। पत्र कबूतर, हंस आदि के माध्यम से पहुँचते थे। बाद में डाकिया पहुँचाने लगा। दोपहर में डाकिये की आवाज सितार सी बजती थी और उसके हाथ के कागज अनमोल रतन लगते थे। अकेला होने पर अनन्त से जोड़ने का कार्य चिट्ठियाँ ही करती थीं—
“अकेला था मैं/ तुमने जोड़ा मुझे अनन्त से/ शिखरों और

सागरों के पार/ धड़कती हवाओं और रंगों से।”

संवेदनाओं और मूल्यों के इस हासोन्मुख समय में भी कुछ न कुछ बचे रहने की आशा जगाता यह संग्रह कथ्य और कथन में अपनी नवीनता के लिए अलग से पहचाना जायेगा।

पुस्तक : फिर भी कुछ रह जायेगा (काव्य संग्रह)

कवि : विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

समीक्षक : व्यासमणि त्रिपाठी

प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज,
नई दिल्ली- 110002

प्रथम संस्करण : 2008,

मूल्य : रुपये 125/-

संपर्क :

जे. जी-167, टाइप-4, जंगलीघाट, पोर्ट ब्लेयर
अण्डमान- 744103, मो. : 9434286189

‘मुक्तचल’ प्राप्ति स्थान

आनंद प्रकाशन : 176/178, रवीन्द्र सारणी, कोलकाता- 700007

मानव प्रकाशन : 131, चितरंजन एवेन्यू, कोलकाता- 700073

मोहन बुक एजेंसी : 2, डेकर्स लेन, कोलकाता-700069

पुस्तकालय : सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय (राम मंदिर), कोलकाता

हेम बुक सेंटर : जे.एन.यू. दिल्ली

मौर्या बुक स्टाल : लंका, वाराणसी

परिदृश्य प्रकाशन : 1, अनमोल बिल्डिंग, शोहराबजी, सांतुक लेन,
धोबी तालाब, मरीन लाइन, ईस्ट मुंबई- 400002

प्रभात बुक सेंटर : सी/207, शीतल स्टार, शीतल नगर, एम.टी.एन.एल के पीछे,
मीरा रोड (ईस्ट), मुंबई- 401107

ज्ञानदीप : नियर फिरारालाल, एच.बी. रोड, राँची-834001

लालमणि साव बुक स्टॉल : आर. एन. साव चौक, पूर्णिया-854301

गोविंद न्यूज पेपर मार्केट : कैट साइट, रेल बाजार, कानपुर-208004

श्याम सुंदर गुप्ता न्यूज पेपर मार्केट : कैट साइट, (नियर रेलवे स्टेशन) कानपुर-208004

**‘जश्न-ए-रंग’ : लिटिल थेस्पियन राष्ट्रीय नाट्य उत्सव
(१२ से १७ नवंबर, २०१६), कोलकाता**

‘नाटकों का नियमित प्रदर्शन होता रहे तो नाट्य-उत्सवों की जरूरत नहीं होती।’ अपने इस एक वाक्य के वक्तव्य द्वारा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के पूर्व निदेशक तथा जाने माने वरिष्ठ रंगकर्मी रामगोपाल बजाज ने ‘जश्न-ए-रंग’ के छठे राष्ट्रीय नाट्य उत्सव का उद्घाटन किया। बांग्ला नाटकों की समृद्ध परंपरा के सांस्कृतिक शहर कोलकाता में हिंदी नाटकों के नियमित मंचन से संबद्ध, रंगकर्म की गिनी-चुनी संस्थाओं में लिटिल-थेस्पियन ने रंगकर्म के सांस्कृतिक आंदोलन में अपनी एक अलग पहचान बनाई है। सांप्रदायिक सद्भावपूर्ण इंसानी रिश्तों की अनोखी मिशाल वाली रंगकर्मी उमा झुनझुनवाला और उर्दू के प्रोफेसर अभिनेता अजहर आलम की यह जोड़ी अपने रंगकर्मी साथियों की टीम के साथ लगभग तीन दशकों से देश के इस हिस्से में हिंदी रंगकर्म को समृद्ध करती आ रही है। अब तक ३० से ज्यादा नाटकों की प्रस्तुति करने वाली इस रंग टीम ने, कोलकाता के ज्ञानमंच सभागार में १२ से १७ नवंबर तक, ५ पूर्णांग नाटकों, २ लघु नाटकों तथा ४ कहानियों का नाटकीय पाठ के साथ अपना छठा राष्ट्रीय नाट्य उत्सव सफलतापूर्वक अनुष्ठित किया।

उद्घाटन सत्र में रंगकर्मी पद्मश्री रामगोपाल बजाज के साथ मंच पर उपस्थित थे वरिष्ठ ओमप्रकाश भारती (निदेशक: पूर्वी क्षेत्रीय सांस्कृतिक केंद्र), श्रीमती कुसुम खेमानी (अध्यक्ष: भारतीय भाषा परिषद), संजय उपाध्याय (निदेशक: मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय), कमाल अहमद (उर्दू नाटककार) रंगकर्मी शिवकुमार झुनझुनवाला एवं कई विशिष्ट उद्योगपति तथा सामाजिक कार्यकर्ता। उत्सव के प्रथम दिन, संजय उपाध्याय के निर्देशन में पटना निर्माण कला मंच ने मैथिली के प्रख्यात कवि विद्यापति के जीवन संघर्ष और सृजन कर्म पर आधारित चर्चित नाटक ‘कहाँ गए मेरे उगना’ मंचित किया। १४वीं सदी के लोकप्रिय कवि विद्यापति की रचनाओं की मोहक संगीतात्मक प्रस्तुति तथा आधुनिक हिंदी के मैथिल रचनाकारों नागार्जुन, रेणु और राजकमल चौधरी के चरित्रों को मंच पर उपस्थित कर एवं उनके कथात्मक विमर्श से नाटक को रच कर, निर्देशक ने इसे एक कालजयी लोक नाट्य का रूप दे दिया। पुरानी प्रस्तुति होते हुए भी, यह नाटक इस उत्सव की उपलब्धि थी।

उत्सव के दूसरे दिन अनुराग कला केंद्र, बीकानेर ने राजस्थान संगीत नाटक अकादमी पुरस्कृत रंगकर्मी सुदेश व्यास के निर्देशन में राजस्थानी लोककथा ‘दुलारीबाई’ का मंचन किया। रममत, होली तथा पारंपरिक विवाह गीतों, स्वांग और मांड जैसी लोककलाओं से समृद्ध इस प्रयोग को कुशल अभिनेताओं का भरपूर सहयोग मिला। उसी दिन सायं, कोलकाता के ताजा टीवी सभागार में समकालीन रंगकर्म पर आयोजित ‘एक सांस्कृतिक अड़्डा/खुली बातचीत’ का आयोजन विशिष्ट रंगकर्मी प्रोफेसर रामगोपाल बजाज की उपस्थिति में किया गया। नाट्य निर्देशकों संजय उपाध्याय, सुदेश व्यास के अलावा

शहर के अनेक लेखकों, कलाकारों और संस्कृतिकर्मियों ने इस विचारोत्तेजक विमर्श में हिस्सा लिया। अगले दिन सर्वश्री रामगोपाल बजाज एवं रंग निर्देशक-अभिनेता अजहर आलम ने संयुक्त रूप से कई कविताओं और साहित्यिक प्रसंगों की भावपूर्ण प्रस्तुति की। तत्पश्चात, अभिनेत्री-निर्देशक उमा झुनझुनवाला ने लेखिका कुसुम खेमानी की दो लघु कथाओं 'एक माँ धरती सी' और 'एक अचंभा प्रेम' 'प्रेम-अप्रेम' शीर्षक एक बेहतरीन कथा-कोलाज का अभिनयात्मक मंचन किया।

इस रंग उत्सव की एक और महत्वपूर्ण विचारोत्तेजक प्रस्तुति थी, चर्चित नाट्यकार-निर्देशिका त्रिपुरारी शर्मा का अंग्रेजी शीर्षक 'मे बी दिस समर' (शायद इन गर्मियों में) वाला हिंदी नाटक। परंपरागत वैवाहिक संबंधों से अलग, स्त्री-पुरुष के लिव-इन-रिलेशनशिप की जरूरत और जटिलता की बखूबी पड़ताल करता है यह नाटक। यूनिकार्न एक्टर्स स्टूडियो, दिल्ली के कलाकार-द्वय टीकम जोशी और गौरी देवल के सशक्त अभिनय के माध्यम से यह नाटक 'पुरुष-भोगना और भागना चाहता है; स्त्री समानता और सुरक्षा चाहती है' जैसे सामाजिक ताने-बाने और नैतिक मूल्यों से जुड़े शाश्वत सवाल से तीव्रता से टकराता है।

उत्सव में पूर्णग नाटकों की आखिरी दो प्रस्तुतियाँ थीं, आकार कला संगम, दिल्ली की सुरेश भारद्वाज निर्देशित 'वेलकम जिंदगी' तथा मेजबान टीम- लिटिल थैस्पियन का संगीत नाटक अकादमी पुरस्कृत वरिष्ठ रंगकर्मी पुस्ताक काक निर्देशित 'बाल्कान की औरतें'। गुजराती के सफल नाटक का हिंदी मंचन 'वेलकम जिंदगी' पिता-पुत्र के पारिवारिक रिश्तों और पीढ़ियों के द्वंद्व को झेलती एक स्त्री की विडंबनापूर्ण मगर निर्णायक भूमिका का प्रभावी चित्रण करता है। माँ के चरित्र में कलाकार अंजु जेटली का अभिनय दर्शकों के लिए एक विरल अनुभव था। उमा झुनझुनवाला द्वारा हिंदी में अनुदित चेक नाटककार जुल्स तश्का का मशहूर नाटक 'बाल्कान की औरतें' १९९० में यूरोप में सर्बिया और क्रोशिया प्रांतों के मध्य धर्मीय तथा नस्ली घृणा आधारित युद्ध और आतंक के दौरान, सर्बिया के बंदी गृहों में मुस्लिम औरतों के अमानुषिक शोषण-अत्याचार की मार्मिक गाथा है। कश्मीर के मौजूदा कट्टरपंथी राजनीतिक तथा आतंकी परिवेश में वहाँ की जनता पर ढाहे जा रहे अत्याचार इस नाटक को समसामयिक संदर्भ से जोड़ जाता है। 'गैंडा' और 'कबिरा खड़ा बाजार में' के बाद यह नाटक इस रंग गुप की शाहकार प्रस्तुति है।

काव्य आवृत्ति की तरह, मंच पर कहानी का पाठ अर्थात् किस्सा ख्वानी, संस्कृतिकर्म की एक अलग विधा के रूप में स्वीकृति प्राप्त कर सकती है। पर इसे रंगमंच के नाटक का दर्जा नहीं दिया जा सकता है। उत्सव में कुल चार कहानियों का विशिष्ट रंगकर्मियों द्वारा मंच पर पाठ किया गया। दिनेश बढैरा और दिलीप दवे द्वारा अवधेश प्रीत का 'हमजमीन' ज्योतिष जोशी एवं उमा झुनझुनवाला द्वारा जैनेन्द्र कुमार का 'गदर के बाद', जितेन्द्र सिंह एवं ममता पाण्डेय द्वारा शफी जावेद की 'मेरी रोटियाँ कहाँ है' तथा दिनकर शर्मा द्वारा निर्मल वर्मा अनुदित कार्ल चैपल का 'टिकटों का संग्राम'। इन सबमें, एकमात्र दिनकर शर्मा की प्रस्तुति को ही अपने सीमित आंगिक अभिनय तथा वेशभूषा द्वारा नाटकीय प्रभाव पैदा करने में उल्लेखनीय सफलता मिली।

भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय की वित्तीय सहायता से अनुष्ठित छह दिन व्यापी जश्न-ए-रंग के छठवें पर्व की सफलता का प्रमुख श्रेय निस्संदेह रंगकर्मी उमा-अजहर की जोड़ी और उनकी टीम के साथियों की अनथक मेहनत को जाता है। वे कोलकाता में हिंदी-उर्दू रंगकर्म के परचम को निरंतर ऊँचा किए रखेंगे, यह विश्वास बना रहेगा।

प्रस्तुति : महेश जायसवाल, 9836621014

केंद्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार

संपर्क: हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-282005, फोन: 0562-2530684, वेबसाइट: www.hindisansthan.org, www.khsindia.org

संक्षिप्त परिचय

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार के शिक्षा विभाग द्वारा 1961 ई. में स्थापित एक स्वायत्त शैक्षिक संस्था है। इसका संचालन स्वायत्त संगठन केंद्रीय हिंदी शिक्षण मंडल द्वारा किया जाता है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में स्थित है और इसके आठ क्षेत्रीय केंद्र: दिल्ली, हैदराबाद, गुवाहाटी, शिलांग, मैसूर, दीमापुर, भुवनेश्वर तथा अहमदाबाद में हैं।

संस्था के प्रमुख उद्देश्य-

■ भारतीय संविधान के अनुच्छेद 351 के अनुपालन में अखिल भारतीय भाषा के रूप में हिंदी का विकास करते हुए इसके विकास और प्रसार की दृष्टि से उपयोगी शैक्षणिक पाठ्यक्रमों की प्रस्तुति एवं संचालन ■ विभिन्न स्तरों पर गुणवत्तापूर्ण हिंदी शिक्षण का प्रसार, हिंदी शिक्षकों का प्रशिक्षण, हिंदी भाषा और साहित्य के उच्चतर अध्ययन का प्रबंधन, हिंदी के साथ विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक भाषा वैज्ञानिक अध्ययन को प्रोत्साहन और हिंदी भाषा एवं शिक्षण से जुड़े विविध अनुसंधान कार्यों का आयोजन अपने विभिन्न पाठ्यक्रमों में अध्ययनरत विद्यार्थियों के लिए परीक्षा आयोजन तथा उपाधि वितरण ■ संस्थान की प्रकृति एवं उद्देश्यों के अनुरूप उन अन्य संस्थाओं के साथ जुड़ना या सदस्यता ग्रहण करना या सहयोग करना या सम्मिलित होना, जिनके उद्देश्य संस्थान के उद्देश्यों से मिलते-जुलते हों और इन समान उद्देश्यों वाले संस्थानों को संबद्धता प्रदान करना ■ समय-समय पर नियमानुसार अध्येतावृत्ति (फेलोशिप), छात्रवृत्ति और पुरस्कार, सम्मान पदक की स्थापना कर हिंदी से संबंधित कार्यों को प्रोत्साहन आदि।

संस्थान के कार्य-

● **शिक्षणपरक कार्यक्रम :** (i) विदेशी विद्यार्थियों के लिए हिंदी शिक्षण, (ii) हिंदीतर राज्यों के विद्यार्थियों के लिए अध्यापक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, (iii) नवीकरण एवं संवर्द्धनात्मक कार्यक्रम (iv) दूरस्थ शिक्षण कार्यक्रम (स्ववित्तपोषित), (v) जनसंचार एवं पत्रकारिता, अनुवाद अध्ययन और अनुप्रयुक्त हिंदी भाषाविज्ञान के सांध्यकालीन पाठ्यक्रम (स्ववित्तपोषित)

● **अनुसंधानपरक कार्यक्रम :** (i) हिंदी शिक्षण की अधुनातन प्रविधियों के विकास के लिए शोध, (ii) हिंदी भाषा और अन्य भाषाओं का तुलनात्मक व्यतिरेकी अध्ययन, (iii) हिंदी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आधारभूत एवं अनुप्रयुक्त अनुसंधान, (iv) हिंदी भाषा के आधुनिकीकरण और भाषा प्रौद्योगिकी के विकास के उद्देश्य से अनुसंधान, (v) हिंदी का समाज भाषा वैज्ञानिक सर्वेक्षण और अध्ययन, (vi) प्रयोजनमूलक हिंदी से संबंधित शोधकार्य। अनुसंधानपरक कार्यों के दौरान द्वितीय भाषा एवं विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षण सामग्री का निर्माण।

● **शिक्षण सामग्री निर्माण और भाषा विकास :** (i) हिंदीतर राज्यों और जनजाति क्षेत्र के विद्यालयों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री निर्माण, (ii) हिंदीतर राज्यों के लिए हिंदी का व्यतिरेकी व्याकरण एवं द्विभाषी अध्येता कोशों का निर्माण, (iii) विदेशी भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण पाठ्यपुस्तकों का निर्माण, (iv) कंप्यूटर साधित हिंदी भाषा शिक्षण सामग्री का निर्माण, (v) दृश्य-श्रव्य माध्यमों से हिंदी शिक्षण संबंधी पाठ्यसामग्री का निर्माण, (vi) हिंदी तथा हिंदीतर भारतीय भाषाओं में द्विभाषी/त्रिभाषी शब्दकोशों का निर्माण।

संस्थान के प्रकाशन : हिंदी भाषा एवं साहित्य, भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, तुलनात्मक एवं व्यतिरेकी अध्ययन, भाषा एवं साहित्य शिक्षण, कोश विज्ञान आदि से संबद्ध विभिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकों का प्रकाशन। अब तक 150 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। विभिन्न स्तरों एवं अनेक प्रयोजनों की पाठ्यपुस्तकों, सहायक सामग्री तथा अध्यापक निर्देशिकाओं का प्रकाशन। त्रैमासिक पत्रिका- 'गवेषणा', 'मोडिया' और 'समन्वय पूर्वोत्तर' का प्रकाशन।

पुस्तकालय : भाषाविज्ञान, अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान, भाषा शिक्षण और हिंदी साहित्य के विभिन्न विषयों की पुस्तकों के विशेषीकृत संग्रह की दृष्टि से हिंदी के सर्वश्रेष्ठ पुस्तकालयों में से एक। लगभग एक लाख पुस्तकें। लगभग 75 पत्र-पत्रिकाएँ (शोधपरक एवं अन्य)।

संस्थान से संबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालय : हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण के स्तर को समुन्नत करने तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता लाने के उद्देश्य से उत्तर गुवाहाटी (असम), आइजोल (मिजोरम), मैसूर (कर्नाटक), दीमापुर (नागालैंड) के राजकीय हिंदी शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों को संस्थान से संबद्ध किया गया है।

योजनाएँ : ■ भारतीय सांस्कृतिक केंद्र, कोलंबो में सिंहली विद्यार्थियों के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान के पाठ्यक्रम की 2007-08 से शुरुआत ■ अफगानिस्तान के नान्गरहर विश्वविद्यालय (जलालाबाद) में संस्थान द्वारा निर्मित बी.ए. का पाठ्यक्रम 2007-08 से प्रारंभ ■ विश्व के कई अन्य देशों (चेक, स्लोवानिया, यू.एस.ए., यू.के., मॉरिशस, बेलजियम, रूस आदि) के साथ शैक्षणिक सहयोग और हिंदी पाठ्यक्रम संचालन के संबंध में संवाद जारी ■ हिंदी के बहुआयामी संवर्धन के लिए हिंदी कॉर्पोरा परियोजना, हिंदी लोक शब्दकोश परियोजना, भाषा-साहित्य सीडी निर्माण परियोजना, पूर्वोत्तर लोक साहित्य परियोजना तथा लघु हिंदी विश्वकोश परियोजना पर कार्य।

-डॉ. कमल किशोर गोयनका

उपाध्यक्ष, के.हि.शि.म.

ई-मेल : kkgoyanka@gmail.com

-प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

निदेशक

ई-मेल : nkpandey65@gmail.com

directorofkhs@yahoo.co.in

इस पार तक...



ध्रुव देव मिश्र 'पाषाण'

जमीन रोज नहीं डोलती

धोपे गये इरादों के बीच
पीठ पर दोता हुआ पराया विज्ञापन
में
कब तक बेचता रहूँ मुखौटे ?
कब तक शरीक रहूँ मैं अपने विरुद्ध
उस युद्ध में
जिसमें सौंप देना पड़ा अपना समय
उस दूँठ को
जो मुँह चिढ़ाता है हर सुबह
मेरी दहलीज़ पर खड़े पर्वत से टकराती धूप को ?
क्या बात है
कि
पगडंडियों से राजपथ तक साथ आनेवाली भीड़
राजभवन के सामने पहुँचते ही
अगले दरते के लिए खी देती है अपनी पहचान ?
कोई खतरा नहीं रहता है तबतक
जब तक
शिखर पर आसीन देवता की बंदगी के लिये
दायें से जुड़ा रहता है बायाँ हाथ
मगर ज्यों-ज्यों देने लगता है वह
बेतहाशा दौड़ते सूर्य-रथ को स्वतंत्र-दिशा की सलामी
क्यों काट ली जाती है उस की कलाई ?

-खंडहर होते शहर के अंधेरे में

Application No:1254088

Title code: WBHINO1615/25/1/2014-TC Dtd: 18/07/2014

हावड़ा विद्यार्थी मंच के लिए प्रकाशक आनंद कुमार सिन्हा और मुद्रक गोपी कृष्ण पालुङ्गे,
शिक्षण, 50 सीताराम घोष स्ट्रीट, कोलकाता से मुद्रित एवं 6/2/1 आशुतोष मुखर्जी स्नन,
सानकिया, हावड़ा- 711106 से प्रकाशित।
संपादक : डॉ. मोरा सिन्हा